

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186665

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—23—4—4—69—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H320.104** Accession No. **G. H. 395**
R95R

Author **रुसो , ज्यॉ जेके .**

Title **रुसो की तीन वार्तारुं : अनु . मोती**

This book should be returned on or before the date
last marked below. **लातु आगति . 1864**

रूसो की तीन वार्ताएँ

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला -- ८६

रूसो की तीन वार्ताएँ

(असमानता का उद्गम तथा अन्य वार्ताएँ)

लेखक

ज्याँजेके रूसो

अनुवादक

मोतीलाल भार्गव, एम० ए०, पी-एच० डी०

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६४

मूल्य चार रुपये

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशकीय

रूसो का जन्म जेनेवा में हुआ था किन्तु फ्रांस में उसकी गणना सर्वश्रेष्ठ लेखकों में की गयी। पारिवारिक विपत्तियों के कारण उसे न तो सच्चा स्नेह ही मिल पाया और न अच्छी शिक्षा ही प्राप्त हो सकी। अपने संकटग्रस्त जीवन में उसे जो अनुभव हुए, उनका तथा फ्रांस की तत्कालीन दयनीय दशा का उसके मानस-पटल पर अमिट प्रभाव पड़ा। अपने भ्रमण और यात्राओं से भी उसने कटुतापूर्ण परिस्थितियों तथा उत्पीड़न और अन्याय के विविध रूपों का परिचय प्राप्त किया। इन तीनों वार्ताओं में उसके इन अनुभवों और इनसे उत्पन्न विचारों की स्पष्ट झलक विद्यमान है। उसे यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि मनुष्य यद्यपि स्वतंत्र पैदा होता है, फिर भी वह चारों तरफ पराधीनता की जंजीरों से जकड़ दिया जाता है। स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व की भावना—इन तीन सिद्धान्तों पर उसने विशेष बल दिया जिसका व्यापक प्रभाव शीघ्र ही फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के रूप में प्रकट हुआ, जिसने यूरोप तथा अमेरिका में हलचल मचा दी।

रूसो की मुख्य रचना “सोशल कांट्रैक्ट” (सामाजिक समझौता) है किन्तु उसमें व्यक्त किये गये विचारों और सिद्धान्तों का पूर्व रूप इन तीनों वार्ताओं में ही दृष्टिगोचर होता है। चोट खाये हुए नागरिक के जो स्वच्छन्द विचार इनमें संकलित किये गये हैं, उनमें सत्य की आग और क्रान्ति के बीज छिपे हुए हैं। इस दृष्टि में ये तीनों वार्ताएँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। राजनीतिक एवं सामाजिक प्रतिक्रिया के रूप में इनके इस महत्त्व के कारण ही हिन्दी समिति की ओर से इनका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, पाठकों को यह रचना पसन्द आयेगी और वे इससे यथेष्ट लाभान्वित हुए, बिना न रहेंगे।

ठाकुरप्रसाद सिंह

सचिव, हिन्दी समिति

विषय प्रवेश

रूसो को समस्त संसार फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के अग्रदूतों में से जानता है। यद्यपि उसका जन्म जेनेवा में हुआ था, परन्तु उसने फ्रान्स के सर्वश्रेष्ठ लेखक के रूप में ख्याति पायी। साहित्य में उसको रोमांचकारी आन्दोलन (रोमैंटिक मूवमेण्ट) का जनक कहा जाता है। उसने आधुनिक शिक्षा-सिद्धान्त की नींव डाली तथा आधुनिक दर्शनशास्त्र के विकास में योग दिया।

रूसो द्वारा प्रतिपादित विचार आज भी पल्लवित और पुष्पित होते जा रहे हैं। रूसो, रिचर्डसन, वाल्टेयर, फ्रेडरिक आदि की अमर रचनाओं ने यूरोप के साहित्य में जो क्रान्तिकारी विचारधारा का स्रोत बहाया था, उसे मुलाया नहीं जा सकता। तत्कालीन फ्रान्स तथा अमेरिका में तो उसने नवीन जीवन का संचार कर दिया था। लार्ड मोल्ले के शब्दों में “यद्यपि रूसो फ्रांस की क्रान्ति के ११ वर्ष पूर्व ही संसार से विदा हो गये थे, किन्तु कौन नहीं जानता कि क्रान्ति के वे ही अग्रदूत थे।”

रूसो का जन्म २८ जून, सन् १७१२ ई० को जेनेवा में हुआ था। उसका पिता घड़ीसाजी का कार्य करता था। उसकी माता का देहान्त जन्म के तुरन्त बाद ही हो गया था। पिता ने बाल्यावस्था में रूसो की अधिक देखभाल नहीं की, उसे बच्चों से मोह न था। अस्तु, रूसो के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व उसके चाचा बरनाई पर रहा। उसने बड़ी कठिनाई से टूटी-फूटी लैटिन की शिक्षा पायी। फलतः रूसो किसी उद्योग-धन्धे के योग्य न हो पाया और सदैव जीवन में धक्के ही खाता रहा। उसने अपने जीवन-काल में लिपिक, सचिव, ट्यूटर, संगीत अध्यापक, लेखक के रूप में दर-दर भटककर जीवन-निर्वाह करने का प्रयास किया। उसे पारिवारिक सुख का अनुभव कभी न हो पाया।

जीवन में रूसो को सच्चे प्यार का भी अनुभव न होने पाया। बाल्यावस्था में माता-पिता का प्यार उसे न मिला और युवावस्था में उसने एक महिला के यहाँ सेक्रेटरी का कार्य किया परन्तु कुछ समय पश्चात् वहाँ से भाग गया। तत्पश्चात् कुछ दिन वह एक महिला मेडेम डि वारेन्स के साथ दो-तीन साल रहा परन्तु वहाँ

से भी वह पेरिस चला गया, जहाँ उसके मित्रों ने उसकी जीविका के लिए कुछ प्रबन्ध कर दिया था। ३२ वर्ष की अवस्था में थेरसी लवेजियर नामक एक कन्या से उसका विवाह हुआ, जिससे पाँच बच्चे भी हुए। परन्तु रूसो अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व को न निभा सका।

सन् १७४१ ई० के पश्चात् रूसो पर्यटन करता रहा और उस पर तत्कालीन फ्रान्स की जनता की दयनीय और दुःखद दशा का प्रभाव पड़ने लगा। सामन्तशाही के दोष उसके सम्मुख नग्न रूप में नाचने लगे। असहाय जनता की हृदय-विदारक दशा, उसका शोषण, उसके हृदय को द्रवीभूत करने लगा। अपने विचारों के प्रदर्शन के कारण रूसो ने तत्कालीन चर्च (गिरजाघरों) तथा राज्य के अधिकारियों से शत्रुता पैदा कर ली। तत्पश्चात् रूसो पर लगातार पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक आपत्तियों का प्रहार होता रहा। फलस्वरूप उसकी रचनाओं में कटुता, आदर्शवादिता तथा अस्वाभाविकता आने लगी।

रूसो का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ सोशल कांट्रैक्ट है, जिसको अंग्रेज लेखक जी० डी० ऐच० कोल के शब्दों में फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति का आधारभूत अथवा राजनीति शास्त्र का सर्वोच्च ग्रन्थ समझा जा सकता है। यह स्थायी महत्त्व का ग्रंथ है जिसमें सत्य का वर्णन है और संसार के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थों में उसकी गणना की जाती है।

परन्तु रूसो की विचारधारा को समझने के लिए उसके ग्रंथों का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण भी आवश्यक है। यद्यपि रूसो का जन्म १७१२ ई० में हुआ था किन्तु उसने १७५० ई० तक कोई महत्वपूर्ण रचना नहीं की। उसकी रचना कर्त्तव्य से ज्ञात होता है कि १७४३ ई० में, जब वह वेनिस में दूतावास से सम्बद्ध था, उसने राजनीतिक संस्थाओं (Political Institutions) पर एक उच्चकोटि का ग्रन्थ लिखने का विचार किया। इस प्रकार की रचना से रूसो को प्रसिद्धि पाने की आशा थी। परन्तु इसी मध्य, सन् १७४९ ई० में उसका ध्यान दीजा की अकादमी द्वारा घोषित एक पुरस्कार-प्रतियोगिता की ओर गया, जिसका विषय था—

“क्या विज्ञान एवं ललित कलाओं की उन्नति ने सदाचार को विशुद्ध बनाया है अथवा उसे भ्रष्ट किया है?”

प्रतियोगिता से आकर्षित होकर रूसो के प्रारम्भिक मनोभाव जाग उठे और उसने एक ऐसी उत्तेजक तथा व्यंग्यात्मक वार्ता लेखबद्ध की जिसमें समस्त मानव सम्यता पर आक्रमण था। अकादमी ने उसकी वार्ता को पुरस्कृत किया और रूसो की ख्याति सारे यूरोप में फैल गयी। आलोचकों ने उसकी एक-एक बात का

खण्डन करने का प्रयास किया। इसी वाद-विवाद में सन् १७५० ई० से १७६२ ई० तक रूसो की विचारधारा का विकास हुआ। इन बारह वर्षों में उसने खण्डन-मण्डन करके राजनीतिशास्त्र को अद्वितीय देन दी।

रूसो की सर्वप्रथम रचना विज्ञान एवं ललित कलाओं के नैतिक प्रभावों पर एक वार्ता अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। स्वयं रूसो ने अपनी रचना कन्फैशन्स में यह स्वीकार किया है कि उसकी यह रचना यद्यपि उत्तेजक एवं ओजपूर्ण है परन्तु साथ ही साथ पूर्णतया तर्क-रहित भी। रूसो की समस्त रचनाओं में प्रथम वार्ता के उसके तर्क बल-रहित और कम सामंजस्य वाले हैं। उसने स्वयं यह स्वीकार किया है कि कोई भी मनुष्य एक क्षण में लेखनकला सीख नहीं सकता। वास्तव में रूसो की स्वयं की आलोचना नितान्त सही है। क्योंकि यह वार्ता संतुलित रचना नहीं कही जा सकती। परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि रूसो की ख्याति इसी वार्ता से आरम्भ हुई।

प्रस्तुत वार्ता में रूसो ने आधुनिक राष्ट्रों की बुराई, भ्रष्टाचार तथा दुःखों पर सर्वप्रथम प्रकाश डाला है और उनके कारणों का विश्लेषण किया है। उसके मतानुसार इन सब बुराइयों का प्रमुख कारण नैसर्गिक अवस्था से पतन है। इन्हीं कारणों से विज्ञान एवं ललित कलाओं का पुनरुत्थान आचरण को पवित्र अथवा दूषित करने में प्रभाव डालता है। इस वार्ता में रूसो ने प्रकृति के अपने आदर्श की व्याख्या की है। परन्तु इसमें इस बात का प्रयत्न नहीं किया कि प्राकृतिक तथा अनैसर्गिक अथवा अच्छे व बुरे में क्या भेद है। प्रथम वार्ता इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि इसमें किसी विशेष सिद्धान्त का निरूपण है, बल्कि इसलिए कि वह रूसो के मस्तिष्क के विकास पर प्रकाश डालती है। इसमें उसकी उस विचारधारा का श्रीगणेश मिलता है जिसने सोशल कांटेन्स्ट में परिपक्वता प्राप्त की।

इस बीच में रूसो की दूसरी रचना मानव की असमानता के उद्गम तथा नींद पर एक वार्ता प्रकाशित हुई। दीजां की अकादमी में सन् १७५३ ई० में दूसरी बार रूसो ने इस वार्ता को पुरस्कार निमित्त प्रस्तुत किया, परन्तु सफलता प्राप्त नहीं हुई। तत्पश्चात् असमानता का उद्गम शीर्षक भूमिका इसमें जोड़कर रूसो ने इसे जेनेवा के गणतन्त्र को समर्पित करने के बाद प्रकाशित करवा दिया।

इसमें रूसो के प्राकृतिक अवस्था सम्बन्धी विचार परिपक्वता पर पहुँच गये हैं। उसकी शैली भी पर्याप्त उन्नत तथा संतुलित प्रतीत होती है। असमानता पर वार्ता का आधा भाग प्राकृतिक अवस्था के काल्पनिक चित्र पर है। इसमें लेखक

ने इस बात पर प्रकाश डाला है कि अपनी आदिकालीन दशा में मनुष्य ने परिस्थितियों और प्रगति के कारण जो परिवर्तन तथा परिवर्धन अपना लिये हैं उनसे अपनी प्रकृति के मूल रूप को वह किस भांति पहचान सकता है। वार्ता के द्वितीय भाग में मनुष्य की नैसर्गिक व्यवस्था तथा राज्य एवं समाज में अनेक परिस्थितियों के सम्बन्धों पर विचार किया गया है। वार्ता के साथ सम्बद्ध एक लम्बी टिप्पणी में रूसो ने स्वयं अपने मत का स्पष्टीकरण किया है।

प्रस्तुत द्वितीय वार्ता रूसो के राजनीतिक मन्तव्यों के विकास का द्वितीय स्तर दर्शाती है।

रूसो की तृतीय रचना राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर एक वार्ता भी सन् १७५५ ई० में प्रकाशित हुई। यह कहना कठिन है कि इसकी रचना द्वितीय वार्ता से पहले हुई अथवा नहीं। सरसरी तौर से देखने पर यह वार्ता सोशल कान्ट्रैक्ट की विचार-शृंखला की पूर्वगामी प्रतीत होती है। इससे यह संभव है कि इसकी रचना असमानता का उद्गम वाली वार्ता से बाद में ही हुई हो। रूसो की तृतीय वार्ता का महत्त्व इसलिए अधिक है कि इसमें रूसो ने प्रथम बार साधारण इच्छा के सिद्धान्त की रूपरेखा दी है। वह राज्य की प्रारम्भिक अवस्था पर विचार-विमर्श से आरम्भ करता है और मानवीय स्वतन्त्रता से उसका सामंजस्य स्थापित करने की सम्भावना पर विचार करते हुए करों के सिद्धान्तों के सूक्ष्म अध्ययन पर वार्ता समाप्त करता है। इस वार्ता में वह राज्य को समस्त नागरिकों की भलाई के लिए प्रयत्नशील मानते हुए अपने कर-सम्बन्धी मन्तव्यों का उसी दृष्टि से निरूपण करता है। रूसो की प्रसिद्ध रचना सोशल कान्ट्रैक्ट के प्रमुख सिद्धान्त इसमें वर्तमान हैं। विचारधारा पर्याप्त सन्तुलित एवं परिपक्व प्रतीत होती है।

रूसो की सर्वश्रेष्ठ एवं जगद्विख्यात रचना सोशल कान्ट्रैक्ट सन् १७६२ ई० में प्रकाशित हुई और एमीली तथा लेटर्स ऑन बि माउण्ट सन् १७६४ ई० में। रूसो का देहान्त सन् १७७८ ई० में हुआ।

विषय सूची

वार्ता १

विषय—विज्ञान एवं ललित कलाओं का नैतिक प्रभाव—

१. भूमिका	३
२. प्रश्न	४
३. वार्ता का प्रथम भाग	६
४. वार्ता का द्वितीय भाग	१९

वार्ता २

विषय—असमानता का उद्गम—

१. जेनेवा के गणतन्त्र को समर्पण	३९
२. प्रस्तावना	५१
३. भाषण	५८
४. वार्ता का प्रथम भाग	६२
५. वार्ता का द्वितीय भाग	९८
६. परिशिष्ट	१३५

वार्ता ३

विषय—राजनीतिक अर्थ-व्यवस्था—

१. वार्ता	१४७
-----------	-----

विज्ञान एवं ललित कलाओं का नैतिक प्रभाव

एक वार्ता

(ए डिस्कोर्स ऑन दि मारल इफेक्ट्स ऑफ दि आर्ट एण्ड साइंसेज़)

“क्या विज्ञान एवं ललित कलाओं के पुनरुत्थान
ने

सदाचारों पर विशुद्धात्मक प्रभाव डाला है ?”

इस विषय पर

रूसो की एक वार्ता

[१]

जो

दीजां की अकादमी

द्वारा

सन् १७५० ई० में प्रस्तावित उपर्युक्त प्रश्न पर पुरस्कृत हुई ।

“^१ बर्बर हूं, क्योंकि मानव मुझे समझते नहीं हैं।”

१. ओविद : OVID

“Barbarus hic ego sum, qui non intelligor illis”

भूमिका

प्रस्तुत वार्ता में सदाचार-सम्बन्धी प्रश्नों में सबसे उदात्त एवं रोचक प्रश्न पर विचार-विमर्श किया गया है। इसका बाल की खाल निकालने वाली उन आध्यात्मिक गूढ़ताओं से सम्बन्ध नहीं है, जो वर्तमान समय में साहित्य के प्रत्येक विभाग में दिखाई पड़ने लगी हैं और जिनका हमारी अकादमी के पाठ्यक्रम पर भी प्रभाव पड़ा है। हमें अब उन सत्त्यों में से एक पर विचार करना है, जिन पर मानव जाति का सुख निर्भर है।

स्पष्ट है कि जो दृष्टिकोण मैंने अपनाया है उसके लिए मुझे सरलता से क्षमा प्रदान नहीं की जायगी। वर्तमान समय में जिसकी सबसे अधिक प्रशंसा है उसका विरोध करके, मैं अपने विरुद्ध बहुमुखी आलोचना के अतिरिक्त और क्या आशा कर सकता हूँ ? कुछ विद्वान् पुरुषों की प्रशंसा मेरे लिये जनता का विश्वास पाने के निमित्त पर्याप्त भी न होगी। तिस पर भी मैंने अपना मत प्रकट किया है; और मैं, चाहे विद्वान् पुरुष हों अथवा जनसाधारण, खींचातानी करके उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न नहीं करूँगा। सभी युगों में ऐसे मनुष्य उत्पन्न हुए हैं जो जिस समाज में रहे उसी की विचार-शृंखलाओं के दास बने रहे। आजकल ऐसे बिरले ही व्यक्ति हैं जो स्वतन्त्र विचार वाले तथा दार्शनिक हैं और जो यदि संघ (League) के समय में जीवित रहते तो एक धर्मान्ध से अधिक नहीं होते। कोई भी लेखक जो चिरस्थायी ख्याति का इच्छुक हो ऐसे पाठकों के लिए नहीं लिखेगा।

केवल एक शब्द और, और मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। क्योंकि जो सम्मान मुझे प्रदान किया गया वह अप्रत्याशित था, इसलिए अपनी वार्ता प्रस्तुत करने के समय से इसे मैंने इतना परिवर्तित तथा परिवर्धित कर दिया है कि यह एक नवीन रचना बन गयी है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इसे उसी रूप में प्रकाशित करने के लिए बाध्य हो रहा हूँ जिसमें कि इस पर पुरस्कार मिला था। मैंने केवल कुछ टिप्पणियां जोड़ी हैं, और ऐसे दो परिवर्तनों को, जो सरलता से पहचाने जा सकते हैं और जिन्हें अकादमी संभवतः स्वीकार नहीं करती, छोड़ दिया है। उस संस्था के प्रति जो श्रद्धा, धन्यवाद और न्याय की भावना मेरे मन में है वह मुझे यह आभार प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित कर रही है।

प्रश्न

मेरे सम्मुख एक प्रश्न है—“विज्ञान एवं ललित कलाओं के पुनरुद्धार का, आचरण को पवित्र अथवा दूषित करने में क्या प्रभाव पड़ा है?” मुझे कौन सा पक्ष लेना चाहिए? वही पक्ष, जो सत्यनिष्ठ बनने के लिए प्रयत्नशील उस भद्र पुरुष को शोभा देता है, जो अपनी अबोधता का ज्ञान रखते हुए भी उसके कारण अपने को हीन नहीं मानता।

मैं इस विषय का सही ढंग से इस न्यायाधिकरण के सम्मुख प्रतिपादन करने में कठिनाई अनुभव करता हूँ, जो कि मेरे द्वारा प्रस्तुत विषय पर अपना निर्णय देगा। यूरोप की एक सर्वश्रेष्ठ विद्वत्सभा के सम्मुख विज्ञानों को न्यून बताने की धृष्टता मैं कैसे कर सकता हूँ? एक प्रसिद्ध अकादमी के सम्मुख अज्ञान की प्रशंसा कैसे कर सकता हूँ? और यथार्थ विद्वानों के प्रति सम्मान की भावना का अपनी अध्ययन-सम्बन्धी धृष्टता से किस माँति समन्वय स्थापित कर सकता हूँ?

परन्तु मैं अपनी ऐसी असंगतियों को जानते हुए भी हताश नहीं हूँ। मैंने अपने मन में कहा कि यह विज्ञान नहीं है जिस पर मैं आक्रमण कर रहा हूँ; यह एक गुण है जिसकी मैं रक्षा कर रहा हूँ, और वह भी गुणी पुरुषों के समाज में। और सद्गुण, गुणियों को उससे कहीं अधिक प्रिय होते हैं जितनी विद्वत्ता विद्वानों को होती है।

तब मुझे किसका भय है? क्या जिस सभा के सम्मुख मैं अपनी बात कह रहा हूँ उसके विवेक का? मैं मानता हूँ कि मुझे इससे डरना चाहिए। परन्तु मेरा भय, जो मत मेरे हैं उनके कारण नहीं बल्कि रचना-सम्बन्धी त्रुटियों के कारण है। निष्पक्ष नृपतियों ने संदिग्ध मामलों में अपने ही विरुद्ध निर्णय देने में संकोच नहीं किया है। वास्तव में सबसे लाभप्रद स्थिति, जिसमें एक न्यायसंगत दावा रखा जा सकता है, वही है जो ऐसे निष्पक्ष एवं प्रबुद्ध पंच के समुख है जो कि अपने ही मामलों का निर्णयकर्ता हो।

मुझे प्रोत्साहित करने वाले इस प्रयोजन में मैं एक और जोड़ सकता हूँ, जो अन्तिम निर्णय करने में मेरा सहायक हुआ। और वह यह है कि मैंने अपनी सर्वोत्तम स्वाभाविक क्षमताओं के साथ सत्य के पक्ष का समर्थन किया है। इसलिए मेरी प्रकट सफलता चाहे कुछ भी हो, यह एक ऐसा पुरस्कार है जो मुझे प्राप्त हुए बिना रह नहीं सकता और वह पुरस्कार मुझे अपने हृदय की गहराई में प्राप्त होगा।

वार्ता का प्रथम भाग

नगण्य स्थिति से, शून्य से अपने ही अध्यवसाय द्वारा मानव का अपने को ऊपर उठाने का दृश्य कितना भव्य एवं सुन्दर है; जिस सघन मेघ-पटल से वह प्रकृत्या ही आच्छन्न था उसे विवेक-ज्योति से छिन्न-भिन्न करते, अपने से ऊपर उठते, विचारों में दैवी क्षेत्रों तक उड़ान भरते, सूर्य के समान विश्व के विराट विस्तार को लम्बे-लम्बे डगों से नापते और उससे भी अधिक आश्चर्यजनक एवं महान् स्वयं अपने ही अन्दर प्रवेश करते हुए मनुष्य का, अपनी प्रकृति, कर्तव्य एवं लक्ष्य का अध्ययन करना ! हम विगत कुछ पीढ़ियों में इन सब चमत्कारों का पुनरुदय होते देख चुके हैं।

यूरोप आदि काल की वर्बरता को पुनः लौट चुका था। विश्व का यह भाग वर्तमान काल में ज्ञान में इतना बढ़ा-चढ़ा है, किन्तु कुछ ही शताब्दी पहले यहाँ के निवासी अज्ञान से भी बुरी अवस्था में डूबे हुए थे। नितान्त अवोधता से अधिक घृणित, वैज्ञानिक अनर्थक वाक्यों ने ज्ञान का नाम छीनकर स्वयं ग्रहण कर लिया था पर जो उसकी पुनःप्रतिष्ठा में अजेय बाधा का विरोध भी करते रहे।

स्थिति यहाँ तक बिगड़ गयी थी कि मनुष्य को सहज बोध में लाने के लिए एक पूर्ण क्रान्ति की आवश्यकता थी। अन्त में यह क्रान्ति ऐसी दिशा से आयी जिस ओर से आने की सबसे कम आशा थी। यह था ज्ञान का शाश्वत संकट वह निर्बुद्धि मुसलमान जो हमारे बीच ज्ञान-विज्ञान के पुनरुत्थान का प्रत्यक्ष कारण बन गया। कुस्तुनतुनिया के राजवंश के पतन के कारण प्राचीन यूनान की विद्याओं को इटली में आश्रय मिला और इन अमूल्य निष्कासित निधियों से फ्रान्स समृद्ध हुआ। साहित्य के पश्चात् शीघ्र ही विज्ञानों का पुनरुत्थान हुआ और चिन्तन ने लेखन-कला का सहयोग प्राप्त किया। इस प्रकार का क्रम विचित्र मालूम हो सकता है परन्तु संभवतः वह पूर्णतया प्राकृतिक है। अब विश्व को काव्य-देवियों के समागम से होनेवाले इस प्रमुख लाभ का पता लगा कि पारस्परिक प्रशंसा से एक दूसरे को प्रसन्न करने के लिए प्रोत्साहित कर मानव जाति को अधिक मिलनसार बनाया जा सकता है।

मस्तिष्क तथा शरीर दोनों की ही अपनी-अपनी आवश्यकताएँ हैं; शरीर की आवश्यकताएँ समाज का आधार हैं और मस्तिष्क की, उसके आभूषण हैं।

जिस समय तक शासन एवं कानून मनुष्य को उसके सामान्य जीवन में सुरक्षा और क्षेम प्रदान करते हैं, कला, साहित्य और विज्ञान कम स्वेच्छाचारी परन्तु संभवतः अधिक शक्तिशाली होते हैं और उन्हीं बंधनों पर पुष्पमालाएँ चढ़ाते हैं जो उनको अपने बोझ से गिराते हैं। वे मानव-हृदयों की मूल स्वतंत्रता की भावना का गला घोट देते हैं जिसके लिए ही संभवतः वे जनमे थे; वे लोगों को अपनी दासता से प्रेम करने के लिए बाध्य करते हैं और इस प्रकार उन्हें वह बना डालते हैं जिसे सभ्य समाज कहा जाता है।

आवश्यकता ने सिंहासनों का निर्माण किया। कला एवं विज्ञान ने उन्हें शक्तिशाली बनाया है। पृथिवी की शक्तियाँ प्रतिभा को चाहती हैं और उसका पोषण करने वालों की रक्षा करती हैं।^१ सभ्य जातियाँ ऐसी प्रवृत्तियों का पोषण करती हैं। सुखी दासो! उन्हीं के कारण तुम्हें मृदु एवं विशिष्ट रुचि प्राप्त है; ऐसी अमिरुचि की मृदुलता और भद्र व्यवहार की शिष्टता, जो तुममें पारस्परिक समागम को, संक्षेप में, समस्त सद्गुणों के प्रदर्शन को, बिना किसी भी गुण का ग्रहण किये हुए भी सरल एवं सुखद बनाती है।

इस प्रकार की ही विशिष्टता थी जो अपनी निर्लिप्तता के कारण कहीं अधिक मोहक बन गयी थी, जिससे एथेन्स (Athens) तथा रोम (Rome)

१. राजसत्ताधारी सदैव आमोद-प्रमोद की कलाओं तथा बाह्य आडम्बरों की वृद्धि को अपनी प्रजा में आनन्द से देखते हैं, बशर्ते उसके कारण सोने-चाँदी की बाहर न निकलना पड़े। वे भली प्रकार जानते हैं कि कृत्रिम आवश्यकताओं की वृद्धि मस्तिष्क के ओछेपन को, जो दासत्व के लिए उचित ही होता है, बढ़ावा देने के अतिरिक्त राष्ट्रों को अनेक बेड़ियों से जकड़ती है। सिकंदर ने इच्छाधो-फेजिसों (Ichthyophages) को पराश्रयी रखने की इच्छा से ही मछली मारने का पेशा छुड़ाकर उन्हें सभ्य राष्ट्रों के परम्परागत खाद्य पदार्थों पर जीवन निर्वाह करने के लिए बाध्य किया। अमरीकी बर्बरों को जो सदैव नग्न विचरते हैं और पूर्णतः शिकार पर निर्वाह करते हैं, परास्त करना सदैव असम्भव रहा है। भला ऐसे मनुष्यों पर क्या नियन्त्रण लगाया जा सकता है जिन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है?

अपने महत्त्व एवं वैभव के गर्वीले काल में प्रसिद्ध हुए थे। और निःसन्देह उसी विषय में हमारा युग तथा राष्ट्र भी समस्त राष्ट्रों तथा युगों से श्रेष्ठतर हो जायगा। बिना मिथ्याभिमान के दर्शनशास्त्र का राग, ऐसा व्याख्यान जो एकदम प्राकृतिक और आकर्षक होने के साथ ही एक ओर ट्यूटनों के फूहड़पन और दूसरी ओर इटालियन कठपुतलियों के अभिनय से दूर हो—ऐसी रुचि का परिणाम है जो उदार अध्ययन द्वारा प्राप्त हुई है और दुनियादारी की बातचीत के द्वारा शान पर घरी गयी है। जो हमारे मध्य में रहते हैं, उनके लिए यह कितने सुख का विषय होता यदि हमारी बाह्य आकृति सदैव हमारे हृदयों का दर्पण होती, यदि शिष्टाचार स्वयं सद्गुण होता, यदि जिन सिद्धान्तों पर हमारी आस्था है वही हमारे आचरण के नियम होते और यदि वास्तविक दर्शनशास्त्र दार्शनिक के दावे से पृथक् न करने योग्य होता। परन्तु इतने सद्गुणों का समागम बहुत काम होता है। इतनी टीम-टाम तथा वैभव में सद्गुण कठिनाई से शायद ही कही दिखलाई पड़ते हैं।

वेश-भूषा की तड़क-भड़क मनुष्य की सम्पन्नता और कोमलता एवं उसकी सुरुचि की घोषणा करती है, परन्तु सच्चे स्वास्थ्य तथा पौरुष का पता तो दूसरे ही लक्षणों से लगता है। शरीर की शक्ति तथा स्फूर्ति के लिए हमें दरबारों की मुलम्मावाली जर्क-वर्क पोशाक के नीचे नहीं, श्रमिक के मोटे वस्त्रों के नीचे देखना होगा।

साधुता ही मन की शक्ति और क्रियाशीलता है और बाह्य आभूषण उसके लिए विजातीय हैं। सत्यनिष्ठ पुरुष तो एक ऐसा मल्ल है जो एकदम नग्न अवस्था में कुस्ती लड़ना पसंद करता है। वह ऐसी सभी निकृष्ट साज-सज्जा को, जो उसकी शक्ति के उपयोग में बाधक है और जो अधिकांश में किसी अंग की कुरूपता को छिपाने के लिए आविष्कृत की गयी थी, घृणा की दृष्टि से देखता है।

जब कलाओं ने हमारे व्यवहार को एक साँचे में ढाला नहीं था और हमारे उद्देश्यों को एक कृत्रिम भाषा में बोलना नहीं सिखाया था, तब हमारे आचरण अशिष्ट किन्तु प्राकृतिक थे और जिन विभिन्न विधियों में हम व्यवहार करते थे वे पहली ही दृष्टि में हमारे स्वभाव की भिन्नता घोषित कर देती थीं। मानव प्रकृति, अपनी गहराई में, आज की अपेक्षा कुछ ज्यादा अच्छी नहीं थी, परन्तु मनुष्य बड़ी सरलता से एक-दूसरे को माँप सकते थे और इससे उन्हें अपनी सुरक्षा प्राप्त थी और इस लाभ से, जिसका मूल्य अब हम नहीं अनुभव करते, वे अनेक दोषों-दुराचारों से बच जाते थे।

वर्तमान काल में, जब कि कहीं अधिक सूक्ष्म अध्ययन तथा परिष्कृत अभि-

रुचि ने दूसरों को खुश करने की कला को एक प्रणाली में परिवर्तित कर दिया है, आधुनिक शिष्टाचार में एक कपटपूर्ण तथा नीच अनुकरण-प्रवृत्ति आ गयी है। यहाँ तक कि कोई यह भी सोच सकता है कि सभी मस्तिष्क एक ही साँचे में ढल गये हैं। सुशीलता एक वस्तु को चाहती है, शिष्टता दूसरी को। रस्म के अपने ढंग हैं, फैशन के अपने नियम, और हमें बस इन्हीं का पालन सदा करना है, स्वयं अपनी प्रकृति की प्रेरणाओं का कमी नहीं।

हम असल में जो कुछ हैं उसे देख सकने का साहस अब नहीं करते हैं वरन् एक चिरस्थायी प्रतिबन्ध में पड़े रहते हैं। इस बीच मनुष्यों के समुदाय में, जिसे हम समाज कहते हैं, सभी एक-सी परिस्थितियों में समान रूप से आचरण करते हैं। इसके प्रतिकूल सभी कुछ दिखाई पड़ता है जब कोई बहुत विशिष्ट और प्रबल प्रयोजन उन्हें अन्यथा आचरण करने को विवश कर देता है। ऐसी दशा में हम नहीं जानते कि हमें किनसे व्यवहार करना है और मित्रों को पहचानने के लिए भी हमें किसी गंभीर एवं प्रबल अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, ताकि समय न निकल जाय, क्योंकि यही अवसर होते हैं जिस समय इस प्रकार का ज्ञान हमारे लिए लाभदायक होता है।

ऐसी अनिश्चितता के कारण कितने दोषों—दुराचरणों की शृंखला न उत्पन्न हो जायगी? सच्ची मित्रता, वास्तविक सम्मान और पूर्ण विश्वास मनुष्य के बीच में से उठ गये हैं। ईर्ष्या, सन्देह, भय, रुखाई, अहंभाव, घृणा और विश्वासघात निरंतर विनम्रता के एकसमान और प्रवंचनापूर्ण आवरण के नीचे छिपे रहते हैं और साथ में एक दाम्भिक स्पष्टता एवं नागरिकता भी रहती है, जिसके लिए हम इस युग की ज्योति तथा पथ-प्रदर्शन के ऋणी हैं। अब हम अधिक समय तक शपथों के बहाने भी निरर्थक अपने निर्माता का नाम नहीं लेंगे। परन्तु हम अपनी निन्दनीय भाषा द्वारा अवश्य उसे (ईश्वर को) अपमानित करेंगे और हमारे सतर्क कान उस पर कोई आपत्ति नहीं करेंगे। हम अपनी मामूली बातों पर गर्व करने के लिए तो अत्यन्त संकोचशील हो गये हैं, परन्तु अन्य पुरुषों की निन्दा करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। हम अपने शत्रुओं की भी स्पष्ट निन्दा नहीं करते बल्कि चालाकी से उन्हें बदनाम करते हैं। अन्य राष्ट्रों के प्रति हमारी घृणा कम हो जाती है परन्तु देशप्रेम उसी के साथ विनष्ट हो जाता है। अज्ञान से घृणा की जाती है परन्तु एक भयंकर संशय ने उसका स्थान ले लिया है। कुछ दोषों की वास्तव में निन्दा की जाती है; कुछ दूसरे भी अप्रतिष्ठित हो गये हैं, परन्तु बहुत

से ऐसे शेष रह जाते हैं जिनका हम गुणों के नाम पर सम्मान करते हैं और आवश्यक समझते हैं कि या तो उन्हें प्राप्त करें अथवा यह दिखलायें कि वे पहले से ही हमारे पास हैं। जो हमारे आधुनिक संतों के संयम की प्रशंसा करें, उन्हें करने दो। मैं उसमें मद्यपान की उस सुरुचि के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता हूँ जो कृत्रिम सरलता^१ की भाँति ही मेरी प्रशंसा के अयोग्य है।

यही वह पवित्रता है जहाँ तक हमारे आचरण पहुँचे हैं; यही वह गुण है जिसे हमने अर्जित किया है। इस हितकर कार्य में कला एवं विज्ञान जो कुछ भी हिस्सा बँटाने का दावा करते हों, उसे करने दो। मैं केवल एक विचार और रखूँगा। मान लीजिए, दूरस्थ देश का एक निवासी विज्ञानों की स्थिति से, कलाओं की पूर्णता से, हमारे सार्वजनिक उत्सवों के औचित्य से, हमारे व्यवहार की शिष्टता से, हमारे वार्तालाप की विनम्रता से, हमारी निरंतर परोपकार की प्रतिज्ञाओं से, और सभी वर्गों के नागरिकों की कोलाहलपूर्ण सभाओं से, जो प्रातः से सायंकाल तक सिवा एक दूसरे को अनुगृहीत करने के और कोई चिन्ता रखती हुई प्रतीत नहीं होतीं, यूरोपीय आचरण के विषय में एक दृष्टिकोण बनाने की चेष्टा करे, तो मेरे विचार में ऐसा अपरिचित हमारी नैतिकता के विषय में नितान्त त्रुटिपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचेगा।

जहाँ परिणाम ही नहीं है वहाँ कारण ढूँढना व्यर्थ है। परन्तु यहाँ तो फल निश्चित है और अष्टता वास्तविक। जिस प्रकार कला एवं विज्ञान ने उन्नति की है, हमारे मस्तिष्क भी उसी अनुपात में दूषित हो गये हैं। क्या यह कहा जायगा कि यह वर्तमान युग का विचित्र दुर्भाग्य था? नहीं, भद्र पुरुषो! हमारी निरर्थक विलक्षणता से उत्पन्न दोष इतने ही प्राचीन हैं जितना कि संसार। समुद्र में प्रति दिन आने वाला ज्वार-भाटा नियमित रूप से चन्द्रमा द्वारा इतना अधिक प्रभावित नहीं होता, जितनी कि एक राष्ट्र की नैतिकता, कला एवं विज्ञान की उन्नति

१. मानतेन (Montaigne) का कथन है—“वार्तालाप तथा तर्क करने से मुझे प्रेम है, परन्तु केवल बहुत थोड़े व्यक्तियों के साथ, और वह भी अपने सन्तोष के लिए। क्योंकि बड़ों के लिए मनोविनोद का साधन एकत्र करने अथवा अपना बौद्धिक विशेषताओं का सार्वजनिक प्रदर्शन करने के लिए तो ऐसा करना शिष्ट पुरुषों के अयोग्य कार्य है।” परन्तु एक के अतिरिक्त, यह तो हमारे सभी विद्वानों का व्यवसाय है।

से। क्योंकि उनकी ज्योति हमारे क्षितिज से ऊपर उठ चुकी है और गुण विलुप्त हो गये हैं और वही चमत्कार निरन्तर सभी कालावधियों तथा स्थानों में देखा जा चुका है।

उदाहरणार्थ मानवजाति की सर्वप्रथम शिक्षणशाला मिस्र को ले लीजिए। वह प्राचीन देश जो कि पीत वर्ण के घृष्ट अंतरिक्ष के नीचे अपने उपजाऊपन के लिए प्रसिद्ध था, वह स्थान जिससे सिसोस्ट्रिस (Sesostris) एक समय विश्व-विजय के लिए निकला था। ऐसा मिस्र, ललित कलाओं तथा दर्शनशास्त्र की जननी बन गया। उस पर शीघ्र ही कैम्बीसिस (Cambyses) ने विजय पायी और तत्पश्चात् वह क्रमशः यूनानियों, रोमनों, अरबों और अन्त में तुर्कों के द्वारा पराजित किया जाता रहा।

यूनान को लीजिए। किसी समय यह वीर नायकों का आवास-स्थान था जिन्होंने दो बार एशिया के शासकों को पराजित किया था। तब साहित्य अपने शैशव में होने के कारण वहाँ के निवासियों की प्रवृत्तियों को अष्ट नहीं कर पाया था। परन्तु विज्ञान की उन्नति ने शीघ्र ही रीति-रिवाजों में विश्रुखलता उत्पन्न कर दी और वह देश मेसीडोनिया वालों का गुलाम बन गया और उसी समय से वह सदैव को विद्वान्, सदैव विलासी और सदैव गुलाम बना रहा एवं उसने अपनी समस्त क्रान्तियों के मध्य शासकों के परिवर्तन के अतिरिक्त और अधिक कुछ अनुभव नहीं किया। डिमोस्थेनीज़^१ (Demosthenes) की समस्त वाक्पटुता भी उस शरीर में जीवन का संचार नहीं कर सकी जिसे ललित कलाओं और विलासिता ने एक बार क्षीण कर दिया था।

एक गड़रिए द्वारा स्थापित और किसानों द्वारा यशस्वी बनाये हुए, रोम का ह्रास ईनियस और तेरेन्स के समय तक आरम्भ नहीं हुआ था। परन्तु ओविद (Ovid), कैटेलस (Catullus), मार्तियल तथा अन्य अश्लील लेखकों के उदय के पश्चात्, जिनका नाम ही स्वयं लज्जा को लजा देने के लिए पर्याप्त है, रोम जो एक समय सद्गुणों का मन्दिर था, दोषों का रंगमंच बन गया; वह राष्ट्रों

१. लेखक का तात्पर्य मिस्र देश की नील घाटी की उपजाऊ भूमि से प्रतीत होता है। इस उर्वरा भूमि में सर्वप्रथम सिंधु घाटी की भाँति सभ्यता का उदय हुआ था।

२. एथेंस का प्रसिद्ध वक्ता।

की घृणा का पात्र और बर्बरों के लिए भी एक परिहास का विषय हो गया। इस प्रकार विश्व की उस राजधानी ने अन्त में उसी दासता के जुए के सामने कंधा डाल दिया जिसे वह दूसरों पर लादा करती थी, और इसके पतन का दिन उस घटना के ठीक पहले का दिन था, जिसमें इसके एक नागरिक को “सुन्दर रुचि के निर्णायक” की उपाधि प्रदान की गयी थी।

पूर्वी साम्राज्य की उस राजधानी (कुस्तुनतुनिया) के विषय में मैं क्या कहूँ जो अपनी स्थिति के कारण नियति द्वारा ही विश्व की राजधानी बनने के लिए निर्दिष्ट थी; जो यूरोप के शेष भाग से, बर्बरता से नहीं विवेक से, निकाली हुई कला एवं विज्ञान के लिए शरणगृह बन गयी थी। सबसे अधिक लपटतापूर्ण व्यसनों, सर्वथा परित्यक्त दुष्टताओं, सबसे नृशंस अपराधों, षड्यन्त्रों, खून और राजनीतिक कारणों से की गयी हत्याओं से कुस्तुनतुनिया के इतिहास का ताना-बाना बना है। ऐसे हैं वे विशुद्ध स्रोत जिनसे निकलकर ज्ञान की बाढ़ ने हमें आप्लावित कर दिया है और जिस पर वर्तमान युग इतना गर्व करता है।

परन्तु हम प्राचीन युगों में ऐसे सत्य के प्रमाण क्यों खोजने जायें जिसके विषय में वर्तमान युग ही पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर देता है? एशिया में एक बड़ा साम्राज्य है जहाँ पांडित्य का आदर होता है और राज्य में उससे सर्वोच्च पद प्राप्त होते हैं। यदि विज्ञान ने हमारी नैतिकता को समृद्ध किया होता, यदि उसने हमें साहसी बनाया होता और अपने देश के कल्याण के लिए जीवन उत्सर्ग करना सिखाया होता, तब तो चीनी विवेकवान्, स्वतंत्र और अजेय हो जाते। परन्तु जब कोई ऐसा दुराचार नहीं है जिसे प्रयोग में लाने से वे चूकते नहीं, कोई ऐसा अपराध नहीं है जिससे वे परिचित नहीं, जब उनके मंत्रियों की चतुराई, उनके कानूनों की कल्पित विवेकशीलता और उस बृहत् साम्राज्य में बसा हुआ जनसमुदाय, सब मिलकर भी असभ्य तथा अबोध तातारों के आतंक से अपनी रक्षा करने में असफल रहे हैं, तो उनके वैज्ञानिक और साहित्यकार किस काम के रहे? उस देश ने अपने विद्वानों को सम्मान प्रदान करके कौन सा लाभ उठाया? क्या उसमें दासों एवं दुराचारियों की ही जाति बसी हुई है?

इन उदाहरणों से कुछ उन राष्ट्रों के आचरण की तुलना कीजिए जो निरर्थक ज्ञान की छूत से बचने के कारण अपने सद्गुणों के बल पर स्वयं आनन्द में मग्न रहे और शेष संसार के लिए उन्होंने एक उदाहरण प्रस्तुत किया। ऐसे थे ईरान

के आदिम निवासी, एक विलक्षण राष्ट्र, जिनमें सद्गुणों की शिक्षा उसी प्रकार दी जाती थी जिस प्रकार हमारे यहां विज्ञान की दी जाती है। उन्होंने अत्यन्त सरलता से एशिया को पराजित कर लिया और केवल उन्होंने यह गौरव प्राप्त किया कि उनकी राजनीतिक संस्थाओं के इतिहास को विलक्षण दार्शनिक घटना समझा गया। ऐसे ही थे सीथिया^१ के वे निवासी (Seythians) भी, जिनके विषय में आश्चर्यजनक स्तुतियाँ हमारी पीढ़ी तक चली आयी हैं। ऐसे ही थे जर्मन, जिनकी सरलता, निर्दोषता एवं सद्गुण इतिहासकार की उस लेखनी के लिए एक आनन्दप्रद व्यतिरेक प्रस्तुत करते हैं जो एक प्रबुद्ध, सम्पन्न और विलासी राष्ट्र की चरम नीचता एवं दुष्टताओं का वर्णन करने से थक चुकी है। अपने अज्ञान एवं दरिद्रता के काल में रोम भी ऐसा ही था। और हमारे अपने युग में भी उस गँवार राष्ट्र ने अपने को उसी भाँति व्यक्त किया है जिसके सही रूप से ख्याति-लब्ध साहस को मुसीबतें भी नहीं जीत पायी हैं और उसकी निष्ठा को कोई अन्य उदाहरण भ्रष्ट नहीं कर पाया है।^२

लोगों ने मस्तिष्क के कार्यों की अपेक्षा दूसरे प्रकार के कार्यों को जो ज्यादा पसंद किया उसका कारण मूर्खता नहीं है। वे इससे अनभिज्ञ नहीं थे कि दूसरे देशों में ऐसे भी मनुष्य हैं जो सर्वोच्च कल्याण तथा गुण-दोष क्या हैं, इसके बारे में आलस्यपूर्वक विवाद करते हुए अपना समय व्यतीत करते हैं। वे जानते थे कि अपनी प्रशंसा में अतिशयोक्ति करना और अन्य राष्ट्रों को बर्बर मानकर उनका तिरस्कार करना उन व्यर्थ के विचारकों का काम है। परन्तु वे इन राष्ट्रों के

१. काले सागर के समीप स्थित एक प्राचीन देश सीथिया के निवासी।

२. मैं उन सुखी राष्ट्रों का वर्णन करने का साहस भी नहीं कर सकता जो उन बहुत से दोषों का नाम भी नहीं जानते जिन्हें दबाने में हमें कठिनाई अनुभव होती है। अमेरिका के बर्बर जिनकी सरल तथा प्राकृतिक शासनप्रणाली को मान-तेन (Montaigne) ने निःसंकोच, न केवल अफलातून (प्लेटो) के नियमों से, बल्कि उन समस्त पूर्ण शासन की कल्पनाओं से भी श्रेष्ठ माना जिन्हें दर्शनशास्त्र प्रस्तावित कर सकता है। वह अनेक उदाहरण देता है जो प्रशंसा करने वालों के लिए महत्वपूर्ण हैं। परन्तु उन सबसे क्या? जब वे एक ब्रीचेज (एक प्रकार की चुस्त पतलून) के जोड़े तक को भी नहीं निर्मित कर सकते।

नैतिक आचरण पर भी ध्यान देते थे और इस प्रकार सीखते थे कि उनकी विद्वत्ता के बारे में उन्हें क्या सोचना चाहिए।^१

क्या यह भुलाया जा सकता है कि यूनान के बीचोबीच ही एक नगरी उत्पन्न हो गयी जो कि अपने कानूनों की विवेकशीलता के लिए उतनी ही प्रसिद्ध हुई जितनी अपने निवासियों के आनंदपूर्ण अज्ञान के लिए। उसके सद्गुण मानवता की दृष्टि से इतने महान् थे कि वह मनुष्यों के स्थान पर देवताओं की सन्तति की गणतंत्र प्रतीत होती थी।

विज्ञान के गर्व के शाश्वत प्रमाणस्वरूप, स्पार्टा नगरी, अपने परकोटे के अन्दर से कलाकारों तथा कलाओं, विद्वानों एवं उनकी विद्वत्ता को, उस समय निर्वासित कर रही थी जब कि ललित-कलाओं के अभ्यास से एथेन्स में दोष और दुराचार प्रचलित हो रहे थे और जब कि उसका स्वेच्छाचारी शासक कवियों के सिरमौर की कृतियों का बड़ी सावधानी के साथ संकलन कर रहा था।

परिणाम में दोनों के बीच का विभेद प्रदर्शित हुआ। एथेंस सुरुचि एवं शिष्टता का केन्द्र तथा वक्ताओं एवं दार्शनिकों का देश हो गया। उसकी भाषा के सौन्दर्य के साथ उसके भवनों की सुन्दरता टक्कर लेने लगी; प्रत्येक दिशा में अत्यन्त चतुर कलाकारों के हाथों संगमरमर तथा किरमिच सजीव दिखाई पड़ने लगे। एथेन्स से ऐसी आश्चर्यजनक कृतियाँ उपलब्ध हुईं जो प्रत्येक भ्रष्ट युग द्वारा आदर्श के रूप में ग्रहण की जा सकती हैं। लेसीडेमान (Lacedaemon) ने उन लोगों की जो तसवीर दी है उसमें ज्यादा अत्युक्ति

१. हम सहज ही देख सकते हैं कि स्वयं एथेंस वालों की वाग्मिता के विषय में क्या सम्मति रही होगी, जब कि वे सच्चे न्यायाधिकरण से, जिसके निर्णयों के विरुद्ध उनके देवता भी अपील नहीं कर पाते थे, व्याख्यान का बहिष्कार करने में इतने सतर्क थे। भला रोमनिवासी अपने चिकित्सकों के विषय में क्या विचार रखते होंगे जब कि उन्होंने गणतंत्र से औषधों को ही निकाल बाहर किया था? और जब स्पेन निवासियों में बच रही मानवता के पुजारियों ने वकीलों के अमेरिका में प्रवेश करने पर प्रतिबन्ध लगाया तो उन्होंने न्यायशास्त्र के विषय में क्या सोचा होगा? क्या यह नहीं कहा जा सकता कि इस अकेले साधन से उन्होंने दुःखी रेड इंडियनों के विरुद्ध किये गये अत्याचारों के द्वारा हुई हानि की पूर्ति करने की बात सोची थी?

नहीं है। वहाँ पड़ोसी राष्ट्र कहा करते थे—“ये मनुष्य जन्म से सद्गुणी हैं, इनका देशी वातावरण इन्हें गुणों से प्रेरित करता प्रतीत होता है।” परन्तु उनके निवासी अपने वीर कार्य-कलाप के अतिरिक्त हमारे लिए अपनी कोई और स्मृति नहीं छोड़ गये हैं, किन्तु इसके कारण उनके उन स्मारकों का मूल्य हमारी आँखों में एथेन्स के संगमरमर के सबसे विचित्र अवशेषों से कम नहीं हो सकता।

यह सच है कि एथेन्स-निवासियों में भी ऐसे थोड़े से विद्वान् थे जिन्होंने सामान्य धारा का सामना किया और कलारूपी देवियों के सम्पर्क के बीच भी अपनी सत्य-निष्ठा की रक्षा की। परन्तु इनमें से सर्वप्रमुख और सबसे दुःखी विद्वान् के द्वारा अपने ही युग के कलाकारों तथा विद्वान् पुरुषों पर जो निर्णय दिया गया है, उसे भी सुन लीजिए।

वह कहता है—“मैंने कवियों पर विचार किया और मैं उन्हें ऐसे पुरुष समझता हूँ जिनकी बौद्धिक विशेषता स्वयं उन्हें और दूसरों को प्रभावित करती है। वे अपने को विद्वान् घोषित करते हैं और ऐसे समझे भी जाते हैं परन्तु वे वास्तव में इसके अतिरिक्त कुछ भी हो सकते हैं।”

सुकरात आगे कहता है—“कवियों के पश्चात् मैं कलाकारों की ओर उन्मुख हुआ। कलाओं के विषय में मुझसे अधिक अनभिज्ञ कोई नहीं था। मुझसे अधिक और कोई यह विश्वास नहीं कर सकता था कि कलाकार आश्चर्यजनक ज्ञान से सम्पन्न हैं। किन्तु मैंने शीघ्र ही खोज निकाला कि कलाकार भी कवियों की भाँति उतनी ही हीन दशा में हैं और दोनों ही एक से भ्रम में पड़ गये हैं। चूँकि उनमें से सबसे चतुर अपने विशेष कार्यों में दूसरों से बढ़कर हैं इसलिए वे अपने को शेष मानवसमाज से अधिक विद्वान् समझ लेते हैं। मेरी दृष्टि में इस गर्व ने उनके समस्त कौशल को नष्ट कर दिया! यहाँ तक कि मैंने अपने को दैवज्ञ के रूप में रखकर अपने से प्रश्न करना आरंभ किया कि मैं जो कुछ हूँ उसमें अच्छा हूँ या जो कुछ वे हैं वह अच्छा है! जो कुछ वे जानते हैं वह मुझे जानना चाहिए या केवल यह जानना चाहिए कि मैं कुछ नहीं जानता। मैंने अपने मन में उत्तर दिया कि जैसा मैं हूँ वही रहना ज्यादा अच्छा होगा।”

“न तो वितण्डावादी, न कवि, न वक्ता, न कलाकार, न मैं स्वयं, हममें से कोई यह नहीं जानता कि सत्यं, शिवं अथवा सुन्दरं की वास्तविकता क्या है? परन्तु हममें अन्तर यह है कि यद्यपि इन व्यक्तियों में से कोई कुछ नहीं जानता, फिर भी सब यह समझते हैं कि वे कुछ जानते हैं, जब कि जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यदि

मैं कुछ नहीं जानता, तो मैं अपने अज्ञान के विषय में किसी भ्रम में भी नहीं रहता। अस्तु, दैवज्ञ द्वारा मेरे विवेक को उच्चतर घोषित किये जाने का केवल इतना तात्पर्य रह जाता है कि मैं पूर्णतया विश्वास कर लूँ कि मैं यह भी नहीं जानता कि मेरी अनभिज्ञता क्या है।”

इस प्रकार हम देखते हैं कि सुकरात, देवताओं के निर्णय के अनुसार मनुष्यों में सबसे अधिक विवेकी और समस्त यूनान की दृष्टि में सभी एथेन्स निवासियों में सबसे अधिक विद्वान्, भी अज्ञान की प्रशंसा में बोलता है। और यह सोचना भी शायद ठीक ही होगा कि यदि वह अब भी जीवित होता तो आधुनिक विद्वान् तथा कलाकार उसको अपने विचार बदलने के लिए तत्पर करते। पर नहीं, मद्र लोगो ! वह सत्यनिष्ठ व्यक्ति अब भी हमारे निरर्थक विज्ञानों को घृणा की दृष्टि से देखने का हठ करता। प्रत्येक दिशा से प्राप्त होने वाली पुस्तकों की अत्यधिक संख्या बढ़ाने में वह सहायता न देता। अपने शिष्यों की भाँति वह हमारे लिए भी अपने सद्गुणों की स्मृति एवं आदर्श छोड़ जाता। मानवजाति को दीक्षित करने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

सुकरात ने एथेंस तथा ज्येष्ठ क्रेटो ने रोम में उन कपटी एवं प्रलोभनपूर्ण यूनानियों का विरोध शुरू किया जो अपने साथी नागरिकों के सद्गुणों को विद्वत् एवं उनके साहस का विनाश कर रहे थे। तिस पर भी संस्कृति की विजय रही ही। रोम दार्शनिकों एवं वक्ताओं से भरा हुआ था; सैनिक अनुशासन की अवहेलना की गयी, कृषि से घृणा की जाने लगी, मनुष्य वर्गों में बँटकर अपने देश का हित भूल गये। स्वतंत्रता, निःस्वार्थता, नियमों के पालन और अनुशासन के पवित्र नामों के स्थान पर एपिक्यूरस (Epicurus), जेनो (Zeno) और आरसेसीलास (Arcesilaus) के नाम क्रमशः आ गये। खुद उनके दार्शनिकों में भी यह कथन प्रचलित था कि जब से विद्वानों का उनके मध्य में बोलबाला हुआ, सत्यनिष्ठ व्यक्ति तिरोहित हो गये। उसके पूर्व रोमनिवासी सद्गुणों का आचरण करके सन्तुष्ट थे। परन्तु जब वे उनका अध्ययन करने लगे, तो उन गुणों का ही नाश हो गया।

यदि फैब्रीसियस की महती आत्मा दुर्भाग्यवश पुनः शरीर ग्रहण कर लेती तो उस रोम के वैभव एवं ऐश्वर्य को देखकर क्या सोचती, जिसको उसने अपने बाहुबल के सहारे विनष्ट होने से बचाया था और अपने सम्मान्य नाम से उसे उसकी समस्त विजयों की अपेक्षा अधिक प्रसिद्ध बना दिया था ? शायद उसने कहा होता—“ऐ देवताओ ! उन फूस के शोपड़ों तथा ग्राम्यगृहों का क्या हुआ जो

सद्गुण एवं संयम के केन्द्र थे ? प्राचीन रोम की सादगी का स्थान किस घातक चमक-दमक ने ले लिया है ? यह कौन सी विदेशी भाषा है ? आचरण में स्त्रैणता की इन मूर्तियों, चित्रों तथा भवनों का क्या तात्पर्य है ? मूर्खों ! यह तुमने क्या कर डाला है ? भूपतियो ! तुमने अपने को उन तुच्छ राष्ट्रों का दास बना लिया जिन्हें तुम विजित कर चुके थे ? तुम अलंकार-शास्त्रियों द्वारा शासित हो रहे हो और तुमने केवल चित्रकारों, वास्तुकला-विशेषज्ञों, मूर्तिकारों तथा अभिनेताओं को समृद्ध बनाने के ध्येय से ही एशिया और यूनान में अपना लहू बहाया है ? कार्थेज की लूट भी एक बाँसुरी बजाने वाले का उपहार थी। रोमनिवासियो ! रोमनिवासियो ! उन क्रीडांगनों को धराशायी करने में शीघ्रता करो, उन मूर्तियों के टुकड़े-टुकड़े कर डालो, उन चित्रों को जला डालो, अपने मध्य से उन दासों को निकाल दो जो तुम्हें पराधीन रखते हैं और जिनकी घातक कलाएँ तुम्हारे आचरण को भ्रष्ट कर रही हैं। दूसरों को इस प्रकार की निरर्थक बौद्धिक विशेषताओं द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करने दो; रोम के उपयुक्त एकमात्र बौद्धिक विशेषता विश्व को जीतकर सद्गुणों को अपना शासक बनाने में ही है। जिस समय साईनियस (Cynceas) ने रोम की सीनेट (मन्त्रिसभा) को राजाओं की सभा समझा था, तो वह या तो निरर्थक वैभव द्वारा अथवा सावधानी से परीक्षा की हुई पवित्रता द्वारा चकित नहीं हुआ था। वहाँ पर उसने उस व्यर्थ की वक्तृत्वशक्ति में से कुछ नहीं सुना था जो अब तुच्छ वक्ताओं का मंत्र तथा अध्ययन-सामग्री बन गयी है। तब कौन सी ऐसी उच्च शैली थी जिसे साईनियस ने देखा ? साथी नागरिको ! उसने अंतरिक्ष के नीचे अब तक कभी न होनेवाले उस श्रेष्ठतम दृश्य को देखा, एक ऐसा दृश्य जिसे तुम्हारी समस्त कलाएँ अथवा तुम्हारा समस्त धन नहीं दिखला सकता। उमने दो सौ सद्गुणी मनुष्यों की सभा देखी जो रोम को आदेश देने और विश्व का शासन करने के योग्य थी।”

परन्तु आइए काल तथा स्थान की दूरी को छोड़ दें और देखें कि हमारे युग तथा देश में क्या घटित हुआ है; आइए हम उन घृणित विवरणों को निर्वासित कर दें जो हमारी मृदुता को चोट पहुँचाते हैं और इस प्रकार उन्हीं वस्तुओं को विभिन्न नामों के अन्तर्गत दुहराने के कष्ट से अपने को बचा लें। मैंने जो फ्रेबीसियस की प्रेतात्मा को बुलाया था वह व्यर्थ ही नहीं था, क्योंकि मैंने उसके मुख से जो कुछ कहलाया, वह उतनी शुद्धता के साथ लुई द्वादश अथवा हेनरी चतुर्थ द्वारा नहीं कहा जा सकता था। यह सच है कि फ्रांस में सुकरात विषैले मद्य का पान न करता

परन्तु उसे अपमान, उपहास, घृणा की मृत्यु से सौगुनी अधम तरलतिक्त औषध पीनी ही पड़ती।

इस प्रकार ईश्वर ने हमें जिस अज्ञान की आनन्ददायी स्थिति में रखा था उससे बाहर निकलने के हमारे गर्वपूर्ण प्रयत्नों में युग-युगान्तरों से विलासिता, लम्पटता तथा दासता हमारी सहायक रही हैं। जिस मोटे आवरण से इसने अपनी क्रियाओं को ढक रखा है वह इसका पर्याप्त प्रमाण है कि प्रकृति ने हमें व्यर्थ के अन्वेषणों के लिए सर्जित नहीं किया था। परन्तु क्या वास्तव में कोई ऐसा पाठ इसने पढ़ाया है जिससे हम उचित रूप से लाभान्वित हुए हों? अथवा जिसकी बिना क्षति-भय के हमने अवहेलना की हो? मनुष्य को एक बार तो यह जान लेना चाहिए कि प्रकृति उसकी विज्ञान से उसी भाँति रक्षा करती है, जिस प्रकार माता बच्चे के हाथ से भयंकर हथियार छीन लेती है। उन्हें यह ज्ञात होना चाहिए कि प्रकृति जितने गुप्त भेदों को उनसे छिपाती है, वे सब ऐसी बुराइयाँ हैं जिनसे वह उनकी रक्षा करती है और जो विशेष कठिनाई वे ज्ञानोपार्जन में अनुभव करते हैं वह उनके प्रति उसकी उदारता की ही द्योतक है। मनुष्य दुराग्रही है, परन्तु वे इससे भी निकृष्ट होते यदि दुर्भाग्यवश वे विद्वान् के रूप में जनमे होते।

ये विचार मानव जाति के लिए कितने अपमानजनक हैं और इनसे हमारे गर्व को कितनी चोट लगनी चाहिए! पूछा जायगा कि क्या साधुता अज्ञान की सन्तान है? क्या सद्गुण और विद्वत्ता में कोई असंगति है? ऐसे अफमानों से क्या-क्या निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते? परन्तु इन प्रत्यक्ष विरोधी स्थितियों का समन्वय करने के लिए उन गौरवपूर्ण उपाधियों की गर्वोक्ति तथा खोखलेपन की सूक्ष्म जाँच करने की आवश्यकता है, जिन्हें मानवीय ज्ञान पर इतनी उदारता से न्यूँछावर किया जा रहा है और जो हमारे विवेक को इस प्रकार अंधा बनाये हुए है। इसलिए हमें कलाओं तथा विज्ञान पर उनके स्वरूप में ही विचार करना चाहिए। हमें देखना चाहिए कि उनकी उत्पत्ति से क्या परिणाम निकलेगा और हमें उन सभी बातों की सत्यता को मानने से नहीं हिचकिचाना चाहिए जिन पर हमारे तक इतिहास से प्राप्त निष्कर्षों के साथ मिल जाते हैं।

वार्ता का द्वितीय भाग

एक परम्परागत कथा मिस्र से यूनान में फैल गयी कि मानवजाति के शान्ति-सुख का विरोधी कोई देवता ही विज्ञानों का जनक था।^१ जिन मिस्रियों के बीच विज्ञानों का सर्वप्रथम जन्म हुआ, उन्होंने उनके विषय में क्या सोचा होगा ? उन्होंने समीप ही उन स्रोतों को देखा जिनसे उनका जन्म हुआ था। वास्तव में, चाहे हम विश्व की गाथाओं का अध्ययन करें अथवा दार्शनिक अनुसंधानों द्वारा इतिहास के अनिश्चित वृत्तान्तों को बढ़ावा दें, हम मानव ज्ञान का ऐसा उद्गम नहीं खोज पायेगे, जो हमारे उस विचार का उत्तर दे सके जिसे हम वर्तमान समय में प्रकट करके प्रसन्न होते हैं। नक्षत्रविज्ञान का जन्म अन्धविश्वास से, वक्तृत्वकला का महत्वाकांक्षा, घृणा, झूठ एवं चाटुकारिता से, ज्यामिति का लोभ से, भौतिक शास्त्र का निरर्थक जिज्ञासा से, यहाँ तक कि सदाचरण-शास्त्र का जन्म भी मानवगर्व से हुआ है। इस प्रकार कलाएँ एवं विज्ञान अपने जन्म के लिए हमारे दुराचारों के ऋणी हैं; यदि वे हमारे सद्गुणों से जन्म लेते तो उनके लाभ के विषय में हमें कम सन्देह होता।

वास्तव में, उनका निकृष्ट उद्गम उनके लक्ष्यों में अत्यन्त स्पष्ट रूप से पुनरावर्तित हुआ है। यदि विलास उनकी कामना नहीं करता तो कलाओं का क्या होता ? यदि मनुष्य अन्यायी न होते तो न्याय-शास्त्र का क्या प्रयोजन रह जाता ? यदि

१. प्रामीथियस (Prometheus) की गाथा में रूपक ढूँढ़ना सरल है और यह प्रतीत नहीं होता कि उसे कोहकाफ़ (काकेशस) से शृंखलाबद्ध करने वाले यूनानी उसके बारे में उससे कुछ अच्छा मत रखते हों जो मिस्रियों अपने देवता थ्यूटस के बारे में रखते थे। एक प्राचीन गाथा के अनुसार जब सैटियर (Satyr) ने प्रथम बार अग्नि को देखा तो उसे प्यार करने तथा छाती से लगाने जा रहा था। परन्तु प्रामीथियस ने चिल्लाकर उसे संयम करने को कहा अन्यथा उसकी दाढ़ी उसके लिए दुःखजनक हो जाती। उसकी उक्ति है कि जो भी वस्तु इसे स्पर्श करती है उसे यह जला देती है।

अत्याचारी युद्ध अथवा पड़्यंत्र न होते तो इतिहास का क्या बनता ? संक्षेप में कोई अपने जीवन को निरर्थक (प्रयोजनहीन) कल्पनाओं में व्यतीत ही क्यों करता यदि प्रत्येक, केवल मानव जाति और प्रकृति की आवश्यकताओं के प्रति कर्तव्यों को निभाते हुए अपने समस्त जीवन को देश की सेवा करने, मित्रों को अनुगृहीत करने तथा दुखी का कष्ट निवारण करने में ही व्यतीत कर देता ? तो क्या हम सब उस कूप के किनारे जीने-मरने के लिए ही बने हैं जिसकी तह में सत्य छिपा पड़ा है ? मेरे विचार मे केवल यह विचार ही प्रत्येक ऐसे मनुष्य को प्रथम प्रयास मे ही हताश करने के लिए पर्याप्त होगा जो गंभीरता से अपने को दर्शनशास्त्र के अध्ययन से दीक्षित करने का प्रयास करता है।

हमको भिन्न प्रकार के कितने संकट घेरे हुए हैं ! विज्ञान की खोज में कितने भ्रमपूर्ण व त्रुटिमय मार्ग हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं। सत्य तक पहुँचने के लिए हमें लाभप्रद सत्य से कहीं अधिक विपद्-जनक त्रुटियों के मध्य से क्या गुजरना नहीं होगा ? जिन अमुविधाओं के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है, वे स्पष्ट हैं, क्योंकि असत्य तो अनगिनत मयोगों को जन्म दे सकता है परन्तु सत्य के पास तो केवल एक ही प्रकार की जीवन-शैली है। इसके अनिश्चित ऐसा मनुष्य ही कहाँ है जो कि शुद्ध हृदय से उसकी खोज करना चाहता है ? फिर यदि उसकी सदिच्छा को स्वीकार भी कर लिया जाय तो किन लक्षणों के आधार पर वह उसे जानने का विश्वास कर सकता है ! मतों की असीम विभिन्नताओं मे वह मापदंड^१ कहाँ है जिससे हम उस पर निश्चित रूप से निर्णय कर सकें ? फिर, इससे भी कठिन यह है कि यदि हम इतने भाग्यशाली हो जायें कि उसे खोज भी लें तो उसका हममें से सही प्रयोग करना कौन जानेगा ?

हमारे विज्ञान जहाँ अपने प्रस्तावित लक्ष्यों में ही निरर्थक हैं वहाँ वे अपने

१. हम जितना ही कम जानते हैं उतना ही सोचते हैं कि हम अधिक जानते हैं। अरस्तू के भ्रमणशील समर्थक किसी पर भी सन्देह नहीं करते थे। क्या डेकार्टे (Descartes) ने ब्रह्मांड को त्रिघात (Cube) तथा अणुओं से बना हुआ नहीं बताया था ? समस्त यूरोप में क्या एक भी ऐसा भौतिक शास्त्री है जो त्रिघुत् के अज्ञेय रहस्यों की जोरदार व्याख्या नहीं करता; उन अज्ञेय रहस्यों की, जो कि वास्तविक दार्शनिकों के लिए सदैव निराशा का विषय बने रहेंगे।

द्वारा उत्पन्न परिणामों में कम भयंकर नहीं। आलस्य का परिणाम होने के कारण वे स्वयं आलस्य को उत्पन्न करते हैं। समय की असाध्य क्षति पहली हानि होगी जो वे समाज को अनिवार्य रूप से पहुँचायेंगे। बिना कुछ भलाई किये जीवन व्यतीत करना, राजनैतिक एवं नैतिक दोनों क्षेत्रों में एक बहुत बड़ा दोष है, इसलिए प्रत्येक निरर्थक नागरिक को एक अपकारी व्यक्ति समझना चाहिए। कीर्तिशाली दार्शनिकों, तब तुम्हीं मुझे बता दो कि हम जिनसे उन अनुपातों को सीख सकते हैं जिनमें आकर्षणशक्ति शून्य में क्रियाशील होती है; ग्रहों की गति के बीच समान समय में पार की हुई दूरियों के सम्बन्ध में हमें कौन बतायेगा? और हमें यह कौन सिखाता है कि किन वक्र रेखाओं पर संयुग्म बिन्दु नति-परिवर्तन बिन्दु (points of inflexion) और उभयाग्र (cusps) होते हैं; किस प्रकार दो भिन्न घड़ियों की भाँति अलग रहते हुए भी वास्तविक संचरण के बिना शरीर और आत्मा एक दूसरे से संसर्ग स्थापित कर लेते हैं; कौन से ग्रहों पर जीवन सम्भव है और कौन से कीटाणु एक असाधारण विधि से जीवोत्पादन करते हैं? ये सब विशिष्ट सूचनाएँ देने वाले तुमसे मैं पूछता हूँ कि यदि तुम हमें इन सुन्दर वस्तुओं में से कुछ न सिखाते, तो क्या हम संख्या में कम, कुशासित, कम अजेय, कम ऐश्वर्यमय या अधिक हठधर्मी होते?

इसलिए अपनी रचनाओं के महत्त्व पर पुनर्विचार करो और चूँकि हमारे विद्वान् पुरुषों में सबसे प्रबुद्ध और नागरिकों में सर्वश्रेष्ठ के श्रम इतने कम उपयोगी हैं, इसलिए हमें बताओ कि हम उन असंख्य दुर्बोध लेखकों के समुदाय और निरर्थक साहित्यिकों के विषय में क्या सोचें, जो बिना किसी प्रकार का प्रतिदान दियेराज्य के सत्त्व को चूस लेते हैं।

हाँ, मैं उन्हें निरर्थक कहता हूँ, भले वे देवता ही क्यों न हों। उनके बिना समाज कहीं अधिक शांतिमय होता और नैतिक आचरण कम भ्रष्ट होते। परन्तु ये गर्वीले तथा व्यर्थ के दावेदार चारों ओर घातक विराधाभासों से सज्जित होकर हमारे धर्म की नींव को खोखला करने तथा सद्गुणों को रद्द करने के लिए भ्रमण करते हैं। वे देशप्रेम तथा धर्म जैसे प्राचीन नामों पर तिस्कार-भरी दृष्टि से मुस्कराते हैं और अपनी बौद्धिक विशेषताओं तथा दर्शन का प्रयोग उन सब वस्तुओं की निन्दा एवं विनाश में करते हैं जिन्हें मानव पवित्र मानते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सद्गुण तथा सिद्धान्त के प्रति वास्तव में घृणा रखते हैं; वे तो केवल जनमत के शत्रु हैं, उन्हें वेदी के नीचे तक लाने के लिए नास्तिकों के देश को निर्वासित

कर देना मात्र पर्याप्त होगा। विलक्षण बनने का रोप मनुष्य को क्या अतिशयोक्तियाँ करने को नहीं उकसायेगा ?

समय को व्यर्थ व्यतीत कर देना अवश्य ही एक बड़ी बुराई है। परन्तु साहित्य तथा कलाओं के कारण इससे भी बड़ी बुराइयाँ आती हैं। उनमें से एक विलासिता है, जो उनकी ही भाँति आलस्य और अभिमान से उत्पन्न होती है। विलासिता शायद ही कभी कला तथा विज्ञान की सेवा से वंचित होती हो और वे तो विलासिता से चिरसेवित हैं ही। मैं यह जानता हूँ कि हमारा दर्शन-शास्त्र, जो परस्पर-विरोधी उक्तियों से पूर्ण है, युग-युगान्तरों के अनुभव के विपरीत यह प्रदर्शित करता है कि विलासिता राज्य के ऐश्वर्य एवं वैभव में योग देती है। परन्तु व्यय-सम्बन्धी नियमों की आवश्यकता पर बल दिये बिना क्या यह अस्वीकार किया जा सकता है कि साम्राज्यों की जीवनावधि के लिए भी आचरणों की सत्यशीलता आवश्यक है और भोग-विलास ऐसी सत्यशीलता के नितान्त विपरीत है ? यह स्वीकार किया जा सकता है कि विलासिता धन-सम्पत्ति का एक संकेत अवश्य है; यदि तुम चाहो तो मैं यह भी मान ले सकता हूँ कि कभी-कभी वह ऐसे धन की वृद्धि में योग भी देती है। परन्तु अपने युग के सर्वथा अनुकूल इस विरोधाभास से हम क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं ? किसी भी मूल्य पर द्रव्य उपार्जित किया जाय तो सद्गुणों का क्या होगा ? प्राचीन संसार के राजनीतिज्ञ सदैव सदाचार एवं सद्गुणों की चर्चा करते थे वर्तमान काल के केवल धन और वाणिज्य की बात करते हैं। उनमें से एक कहेगा कि ऐसे देश में मनुष्य का वही मूल्य है जो उसके अलजियर्स में (दास के रूप में) विक्रि जाने पर होता। दूसरा उसी गणनाप्रणाली का पालन करते हुए खोज निकालता है कि कुछ देशों में मनुष्य का मूल्य कुछ नहीं है और दूसरों में उस कुछ नहीं से भी कम। वे मनुष्यों का उतना ही मूल्य आँकते हैं जितना बैलों के एक झुंड का। उनके अनुसार, एक राज्य के सम्मुख मनुष्य का मूल्य उतना ही है जितना कि वह भोजन इत्यादि पर व्यय करता है और इस प्रकार एक सिबराइट^१ (Sybarite) का मूल्य कम से कम तीस लेसी डेमोनियन् (Lacedaemonians) के बराबर होगा। तिस पर भी ये लेखक मुझे बतायें कि साइबेरिस (Sybarise) अथवा स्पार्टा (Sparta) दोनों गणतंत्रों में से किसको मुठ्ठी भर

१. इटली में सिबेरिस नामक एक प्राचीन यूनानी बस्ती के निवासी, जो अपनी कामुकता एवं विलासिता के लिए प्रसिद्ध थे।

किसानों ने पराजित कर दिया था, और वे कौन थे जो एशिया का आतंक बन गये थे ?

साईरस (Syus) का राजतंत्र एक ऐसे राजकुमार के नेतृत्व में ३,००० पुरुषों ने जीता था जो कि ईरान के छोटे से छोटे क्षत्रपों (Satraps) से भी गरीब था। इसी प्रकार सब राष्ट्रों में गरीब सिथियनों (Scythians) ने भी विश्व के सर्वशक्तिशाली सम्राटों का सफलता से विरोध किया था। जब एक धनी और दूसरा दरिद्र दो प्रसिद्ध गणतंत्रों में, विश्व-साम्राज्य के लिए युद्ध हुआ तो प्रथम पर दूसरे ने विजय पायी। रोम साम्राज्य सारे विश्व की समस्त धन-सम्पत्तियों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात्, स्वयं ऐसी जनता से पराजित हो गया जो यह भी नहीं जानती थी कि धन-द्रव्य क्या होते हैं।

फ्रेंकों (Franks) ने गालों (Gauls) को और सैक्सनों (Saxons) ने इंग्लैंड को, बिना किसी अन्य धन-सम्पत्ति के कोष के केवल अपनी वीरता एवं दरिद्रता के बल पर ही जीता। दरिद्र पर्वतारोहियों के एक दल ने, जिनकी लालसा केवल कुछ भेड़ों की खालों पर अधिकार पाने तक सीमित थी, आस्ट्रिया की उद्दंडता को रोक दिया और बरगंडी के धनी और भयंकर उस राजवंश को पद-दलित किया जो तत्कालीन यूरोप के राजाओं को कंपायमान करता था। संक्षेप में, चार्ल्स पंचम के उत्तराधिकारी की समस्त विद्वत्ता एव शक्ति, जिसके पीछे हिन्द (Indies) की अतुल धन-सम्पत्ति भी थी, केवल कुछ छोटी प्रकार की मछली का शिकार करने वाले मछुओं के सामने विचलित हो गयी। हमारे राजनीतिज्ञों को कुछ क्षण के लिए अपने गणनाचक्र को अलग रखकर विनीत भाव से इन उदाहरणों पर विचार करने दो। उन्हें सदैव के लिए यह सीख लेने दो कि धन यद्यपि सब कुछ कर सकता है परन्तु सदाचरण तथा नागरिकों को नहीं खरीद सकता। ऐसी दशा में विलासिता के विषय में झगड़े का क्या निश्चित विषय रह जाता है ? क्या यह जानने के लिए कि साम्राज्यों के लिए कौन सा रूप अधिक लाभप्रद है; उनका अस्तित्व भड़कीला एवं क्षणिक हो या सद्गुणी एवं चिरस्थायी हो ? मैं कहता हूँ भड़कीला, लेकिन किस कान्ति के साथ ? उच्च हृदयों में आडम्बर की रुचि इतनी मान्य नहीं हो पाती जितनी सत्यशीलता की रुचि। नहीं, यह असम्भव है कि व्यर्थ की असंख्य चिन्ताओं से भ्रष्ट बुद्धि कभी उस स्तर तक उठ सके जो वास्तव में बड़ा तथा महान् कहा जा सकता है। यदि उनके पास शक्ति होगी तो भी उन्हें साहस की आवश्यकता पड़ेगी।

प्रत्येक कलाकार प्रशंसा को पसंद करता है। अपने समकालीनों की प्रशंसा उसके बदला चुकाने का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग था। यदि ऐसे राष्ट्र में और ऐसे समय में जन्म लेने का दुर्भाग्य उसका हो जब पांडित्य का प्रचलन हो और युवकों का छिछलापन फैशन का मार्गदर्शक बन गया हो; जब मनुष्यों ने अपनी अभिरुचि को अपनी स्वतंत्रता के ऊपर अत्याचार करने वालों के समक्ष त्याग दिया हो; जब पुरुष-स्त्री में से कोई किसी ऐसी चीज को स्वीकृत नहीं करता हो जो दूसरे की भीरुता के अनुपात में नहीं होती^१; जब नाट्य-कविता की सर्वोत्तम रचनाओं की निन्दा और संगीत की श्रेष्ठतम कृतियों की उपेक्षा की जाती हो, तब वह उसे प्राप्त करने के लिए क्या करेगा? तब वह यह करेगा—वह तत्कालीन युग के स्तर तक अपनी विलक्षण प्रतिभा को गिरायेगा और मध्यम श्रेणी की ऐसी रचनाएँ बनाना पसंद करेगा जो उसके जीवन-काल में ही प्रशंसित हो सकें; वह उन प्रभावशाली वीरता के कार्यों के लिए परिश्रम करना छोड़ देगा जिनकी प्रशंसा उसकी मृत्यु के बहुत दिन पश्चात् तक भी नहीं हो पायेगी। प्रसिद्ध वाल्टेयर (Voltaire) हमें बतायें कि उन्होंने कितने स्फुरणशील और पौरुषेय सौन्दर्य को कृत्रिम शिष्टाचार के लिए तिलांजलि दी और जो शूरवीरता की प्रवृत्ति महान् एवं शिष्ट है, उसकी तुच्छ तथा नगण्य की प्रसन्नता के लिए कैसी भयंकर बलि दी होगी?

इस प्रकार वह सदाचारों का विसर्जन विलासिता का अनिवार्य परिणाम है;

१. मैं यह नहीं सोचता कि स्त्रियों ने जो प्रधानता पुरुषों के ऊपर प्राप्त की है वह स्वयं कोई बहुत बड़ा दोष है। वह एक ऐसा उपहार है जो प्रकृति ने मानव-जाति की भलाई के लिए भेंट किया है। यदि भली भाँति निदिष्ट हो तो वह उतना ही मंगल उत्पन्न कर सकता है जितना इस समय निकृष्टता! हम अभी तक पर्याप्त रूप से यह नहीं जानते हैं कि समाज के लिए उस अर्धांग को, जो दूसरे पर अनुशासन रखता है, अच्छी शिक्षा देकर कितने लाभ प्राप्त कर सकते हैं। पुरुष सदैव वही होंगे जो स्त्रियाँ उन्हें बनाना पसंद करेगी। यदि तुम चाहते हो कि पुरुष शिष्ट तथा सद्गुणी हों तो स्त्रियों को आत्मा एवं सद्गुणों की महत्ता ब्या है, इसकी शिक्षा लेने दो। यह विषय जिन विचारों को उभारता है और जिन्हें प्लेटो (Plato) ने पहले प्रदर्शित किया था, वे उस व्यक्ति की लेखनी के द्वारा अधिक पूर्णता से विकसित होने के योग्य हैं जो ऐसे महान् गुरु के अनुयायी बनने और इतने महान् लक्ष्य की रक्षा करने के योग्य हो।

फिर इसके बाद रुचि की भ्रष्टता आती है। यदि संयोगवश औसत योग्यता के पुरुषों में कोई ऐसा व्यक्ति मिल भी गया जो मस्तिष्क की पर्याप्त शक्ति रखता हो और युग के प्रचलित वातावरण के अनुसार आचरण करने और वचकानी कृतियों से अपने को विकृत करने से इन्कार कर सके, तो उसका जीवन ही दुभर कर दिया जायगा। वह दारिद्र्य तथा विस्मृति में मरेगा। यह भविष्यवाणी नहीं है वरन् एक ऐसा वास्तविक तथ्य है जो अनुभव से दृढ़ हो चुका है। हाँ, कारले (Carle) और पियरे वानलू (Pierre Vanloo), वह समय आ गया है जब तुम्हारी पेंसिलें, जो भव्य एवं पवित्र चित्रों द्वारा हमारे मन्दिरों की महत्ता में वृद्धि करने के लिए थीं, तुम्हारे हाथों से गिर जायेंगी या फिर एक बन्द गाड़ी (कोच) के तख्तों पर कामी चित्रों के सजाने के घृणित कार्य से दूषित हो जायेंगी। और तुम अद्वितीय पिगल (Pigal), फिडियास (Phidias) तथा प्रेक्सीटेलिस (Praxitelas) के प्रतिद्वन्द्वी, जिसकी छेनी को हमारे पूर्वज देवमूर्ति ढलवाने में प्रयुक्त कराते और जिसकी प्रतिमाएँ हमारे नेत्रों के सम्मुख मूर्ति-पूजा को क्षम्य बनाती हैं, तुम्हारे हाथों को भी पुच्छहीन वानर की तोंद ढालने के लिए बाध्य होना पड़ेगा, अन्यथा वेकारी में दिन बिताने पड़ेंगे।

जब तक हम प्रारंभिक युगों में प्रचलित सरलता—सादगी—के चित्र पर ध्यान न दें तब तक मानवजाति के सदाचार पर विचार नहीं कर सकते। इस प्रतिमा की तुलना संगत रूप से एक सुन्दर तट से की जा सकती है जो केवल प्रकृति से आभूषित है, जिसकी ओर हमारी आँखें निरन्तर उन्मुख हैं और जिसे हम पश्चात्ताप के साथ पीछे हटता देखते हैं। जिस समय मनुष्य सद्गुणी एवं अबोध थे और उन्हें देवताओं को अपने कार्यों का साक्षी बनाना प्रिय था, तो वे साथ-साथ एक ही झोपड़ी में रहते थे, लेकिन जब वे दुराचारी हो गये तो इन असुविधाजनक दर्शकों से ऊब गये और इन्हें महान् मन्दिरों में निर्वासित कर दिया। अन्त में, उन्होंने इन देवताओं को मन्दिरों से भी, स्वयं उनमें रहने के उद्देश्यों से, निकाल फेंका, अथवा देवताओं के मन्दिर नागरिकों के महलों से किसी भी दशा में अब अधिक ऐश्वर्यशाली नहीं रहे। यह अधःपतन की चरम सीमा थी। जब दुराचरण बड़े लोगों के द्वार, संगमरमर के स्तम्भों पर अथवा कौरिन्थ राजनगरी में खुदी

१. यूनान में स्थित नगरी, जिसकी शिल्पकला के सुन्दर नमूनों में स्तम्भों की घण्टीनुमा कानिस पर बेलबूटे बने होते थे।

हुई मूर्तियों के रूप में दिखाई पड़ने लगा और लोगों द्वारा समर्थित होने लगा तब ऐसा लगा कि दोष-दुराचरण को इससे अधिक सीमा तक कमी नहीं ले जाया जा सकत

जैसे-जैसे जीवन की सुविधाएँ बढ़ती हैं, कलाएँ पूर्णता को प्राप्त होती हैं अं विलासिता का प्रसार होता है, वास्तविक साहस न्यून होता जाता है, गुण विकृ होते जाते हैं। यह सब विज्ञान का और उन कलाओं का प्रभाव है जो मानवगृ के एकान्त में प्रयुक्त की जाती हैं। जब गोथ लोगों (Goths) ने यूनान को र डाला था, तो उन्होंने केवल पुस्तकालयों को अग्नि की लपटों की भेंट होने के लि छोड़ दिया था, क्योंकि वे समझते थे कि इसके द्वारा यहाँ के निवासियों का ध्य सैनिक अभ्यासों से हटाया और अकर्मण्य तथा जड़ व्यवसायों में व्यस्त रखा सकता है।

चार्ल्स अष्टम ने विना तलवार उठाये तस्केनी (Tuscany) तथा नेपु (Naples) के राज्य का स्वामित्व प्राप्त कर लिया था और उसके स सभासदों ने इस आकस्मिक सफलता का कारण इस तथ्य को बतलाया इटली के राजकुमारों एवं प्रभुओं ने अपने को, सक्रिय एवं सैनिक कार्यों के स् पर विद्या की उन्नति में अधिक तत्परता से लगाया था। इन विशेषताओं को लेख करने वाले बुद्धिमान् का कथन है—अनुभव हमें स्पष्टतः बतलाता है कि स सैनिक तथा उससे मिलते-जुलते अन्य विषयों के बीच विज्ञान का प्रयोग पुरुषों दृढ़ तथा ओजपूर्ण बनाने की अपेक्षा भीरु एवं स्त्रैण बना देता है।

रोमनिवासी यह स्वीकार करते थे कि मनुष्य जिस अनुपात में चित्रव शिल्पकार तथा सुनारी की कलाओं में पारंगत होता जाता था और ललित कल को समृद्ध करता जाता था, त्यों-त्यों उसमें सैनिक गुण विनष्ट होते जाते माना। यह प्रसिद्ध देश सदैव के लिए दूसरे राष्ट्रों के सम्मुख एक उदाहरण ब वाला था, कि इस अवसर पर भैषज्य (मेडिसी) तथा साहित्य के पुनरुत्था पुनः इस बार शायद सदा के लिए इटली की उस सैनिक कीर्ति को नष्ट कर जो कुछ शताब्दियों पहले प्रतीत होता था कि उसने पुनः प्राप्त कर ली है।

यूनान के प्राचीन गणतंत्रों ने अपने उस विवेक से, जो उनकी अधिकांश संस् में स्पष्टतः विशिष्ट रूप से दिखाई देता था, उन समस्त अकर्मण्य तथा आ व्यवसायों का अनुसरण करने से अपने नागरिकों को रोक दिया था जो शरीर को एवं भ्रष्ट करके मस्तिष्क की स्फूर्ति को भी नष्ट कर देते हैं। वास्तव में, किस सा यह सोचा जा सकता है कि जिन्हें न्यूनतम आवश्यकता जीत सकती थी और छो

छोटी कठिनाई पीछे हटा सकती थी, वे भूख और प्यास, थकावट, भय एवं मृत्यु का सामना कर सकते हैं ? भला वे सैनिक युद्ध की ही भयानक कठिनाइयों को दृढ़तापूर्वक कैसे सहन कर सकते थे जब कि वे पूर्णरूप से उनके अभ्यस्त ही नहीं थे ? वे उत्साह के साथ भगोड़ों की दौड़ में ऐसे अधिकारियों के नेतृत्व में कैसे दौड़ सकते थे, जिनमें धोड़े पर चढ़कर यात्रा करने की भी शक्ति नहीं थी ? आधुनिक योद्धाओं के, जो इतने वैज्ञानिक ढंग से दीक्षित हैं, प्रसिद्ध साहस का उदाहरण देना कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं है। एक दिन के युद्ध में उनकी वीरता की मैं बहुत प्रशंसा सुनता हूँ, परन्तु मुझे यह कोई नहीं बताता कि वे अत्यधिक थकावट को किस प्रकार सहन करते हैं और किस भाँति ऋतुओं की कठोरता और जलवायु की अनिश्चितता का सामना करते हैं। थोड़ी सी धूप अथवा हिम अथवा कुछ बाह्य सुविधाओं का अभाव, कुछ ही दिनों में हमारी अच्छी से अच्छी सेनाओं में से किसी को भी गतिहीन व नष्ट करने के लिए पर्याप्त है। निर्भीक योद्धाओ ! केवल एक बार मुझे वह सत्य तुम्हें बताने दो जो कदाचित् तुम्हें नहीं बताया जाता। तुम्हारी वीरता के विषय में मुझे पूर्ण सन्तोष है। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि तुम केने (Cannae) तथा ट्रेसीमीन (Trasimene) में हैनीबाल (Hannibal) के संग विजयी होते और यह भी कि तुम सीजर के साथ सीमा को पार कर जाते और देश को दास बनाने में उसकी सहायता करते, परन्तु मैं जानता हूँ कि प्रथम के साथ तुम कभी आल्प्स पर्वत पार नहीं कर पाते अथवा द्वितीय के साथ अपने पूर्वज गाल (Gaul) निवासियों को पराजित करने में असमर्थ रहते।

युद्ध सदैव मुठभेड़ की घटनाओं पर ही निर्भर नहीं रहता। सेनानायकत्व में ऐसी कला है जो युद्ध में विजय प्राप्त करने से भी श्रेष्ठ है। एक बुरा नायक भी गोलियों की बौछार के समय अधिक निर्भीकता से बरताव कर सकता है। एक सामान्य सैनिक में भी इतने साहस के साथ, जिसमें मृत्यु से अन्ततः कोई बचाव नहीं है, कुछ और शक्ति और ओज का होना संभवतः अधिक लाभदायक होगा। और इस बात का राज्य पर क्या प्रभाव पड़ता है कि उसकी सेनाएँ ठंड और ज्वर से नष्ट होती हैं या शत्रु की तलवार से ?

यदि विज्ञान-सम्बन्धी उन्नति सैनिक गुणों के लिए घातक है तो सदाचार सम्बन्धी गुणों के लिए और भी हानिकर है। हमारे बचपन से ही एक हास्यपूर्ण शिक्षाप्रणाली हमारी कल्पनाशक्ति को परिष्कृत करने तथा विवेक को भ्रष्ट करने में लगी रहती है। चारों ओर हम बड़ी-बड़ी संस्थाएँ देखते हैं, जहाँ हमारे

युवक खूब खर्च कर शिक्षा पाते हैं और अपने कर्तव्य के अतिरिक्त और सभी चीजों में प्रशिक्षित होते हैं। हमारे बच्चे अपनी भाषा से अनभिज्ञ रहेंगे, पर दूसरी ऐसी भाषा बोल सकेंगे, जो कही नहीं बोली जाती। वे ऐसी कविताएँ रच सकेंगे जो वे स्वयं नहीं समझ सकते और सत्यासत्य निर्णय की क्षमता प्राप्त किये बिना ही वे विशेष तर्कों द्वारा उन्हें न पहचानने योग्य बनाने की कला ग्रहण कर लेंगे। परन्तु दानशीलता, स्वाभाविक न्याय, मादक पदार्थों से संयम, मानवता और साहस ऐसे शब्द होंगे जिनका वे अर्थ भी नहीं जान पायेंगे। देश का प्यारा नाम उनके कानों को कभी सुनाई नहीं देगा और यदि वे कभी ईश्वर के विषय में बोलते हुए सुने भी जायेंगे तो यह ईश्वर से भय करके बुराई से बचने के लिए नहीं होगा वरन् खुद उसी से भय-त्रस्त हो जाने के रूप में होगा। एक विद्वान की उक्ति है कि उसका शिष्य इसकी अपेक्षा अपना समय टेनिस कोर्ट पर व्यतीत करता तो अच्छा होता क्योंकि वहाँ कम से कम उसका शरीर व्यायाम के कारण पुष्ट तो होता।

मैं खूब जानता हूँ कि बच्चों को व्यस्त रखना चाहिए और अकर्मण्यता उनके लिए सबसे अधिक भयानुर संकट है। परन्तु उन्हें क्या पढ़ाया जाना चाहिए? यह निःसन्देह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। उन्हें वही पढ़ाया जाना चाहिए जिसका वे मनुष्य होने पर व्यवहार में प्रयोग करेंगे, न कि वह जो उन्हें भूल जाना चाहिए।

१. दिदेरो (Diderot) द्वारा रचित रेंसीय फिलासफीक।

२. स्पार्टा निवासियों के सबसे बड़े राजा को शिक्षा इस प्रकार की थी। मानतेन कहता है कि यह पर्याप्त रूप से ध्यान देने योग्य है कि लाइकुरगस (Lycurgus) को उत्तम संस्थाएं जो वास्तव में दिव्य शक्ति से पूर्ण थीं, युवकों के पालन-पोषण में इतना अधिक ध्यान देती थीं मानो वही उनका प्रधान लक्ष्य हो। इस कला-पीठ में भी, वे ज्ञान का इतना कम वर्णन करते हैं कि यह प्रतीत होता है मानो उनके उदार आत्मा वाले युवक अन्य प्रत्येक प्रतिबन्ध को घृणा की दृष्टि से देखते और विज्ञान के शिक्षकों के स्थान पर केवल शूरत्व, बुद्धिमानी तथा न्याय के अध्यापकों को चाहते हों।

आइए, इसके पश्चात् हम देखें कि वही लेखक प्राचीन ईरानियों के विषय में क्या कहता है? उसका कथन है—“प्लेटो वर्णन करता है कि सिंहासन के उत्तराधिकारों का पालन-पोषण इस प्रकार किया जाता है—जन्म के समय स्त्रियों की संरक्षा में सुपुर्द न करके राजा के निकट उच्च पदासीन हिजड़ों को, उनके सद्-

हमारे उद्यान मूर्तियों से सजे हैं और हमारे कक्ष चित्रों से। आप इसकी क्या कल्पना करेंगे कि ये कला की आश्चर्यजनक कृतियाँ, जो सार्वजनिक प्रशंसा के लिए इस भाँति प्रदर्शित हैं, किसका प्रतिनिधित्व करती हैं? उन महान् पुरुषों का जिन्होंने अपने देश की रक्षा की है या उससे भी महत्तम पुरुषों का जिन्होंने अपने सद्गुणों द्वारा देश को समृद्ध बनाया है? परन्तु वास्तविकता इससे कहीं दूर है। ये हृदय एवं मस्तिष्क के प्रत्येक विकृत रूप की प्रतिमाएँ हैं जो चतुराई से प्राचीन पौराणिक गाथाओं से छाँटी और हमारे बच्चों की प्रारंभिक जिज्ञासा के लिए प्रदर्शित की गयी हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पढ़ने योग्य होने से पूर्व ही उनके नेत्रों के सम्मुख पतित कार्यों की आकृतियाँ आ जाती हैं।

मनुष्यों में बौद्धिक विशेषताओं की विभिन्नता तथा सद्गुणों के तिरस्कृत होने से उत्पन्न घातक असमानता को छोड़कर ये सब दोष भला किन कारणों से उठ सकते हैं? यह हमारे अध्ययन के प्रत्यक्ष प्रभावों में से है और उनके परिणामों में से सबसे भयानक। प्रश्न अब यह नहीं रह गया कि क्या मनुष्य सत्यशील है परन्तु यह कि क्या वह चतुर है? हम यह नहीं पूछते कि क्या पुस्तक लाभदायक है वरन् यह कि क्या वह बहुत अच्छी लिखी हुई है। बुद्धि-चातुर्य तथा प्रतिभा पर पुरस्कारों की वर्षा होती है, जब कि सद्गुण असम्मानित ही रह जाते हैं। सुन्दर वार्ताओं के लिए सहस्रों पुरस्कार हैं परन्तु सत्कर्मों के लिए कोई नहीं। तो भी, मुझे यह जानकर हर्ष होगा कि क्या कभी सर्वोत्तम विवेचन के लिए इस अकादमी में पुरस्कार-विजेता बनने के सम्मान की, उस पुरस्कार की नींव डालने की क्षमता से तुलना की जा सकती है?

गुणों के कारण सौंप दिया जाता है। वे उसके शरीर को सुन्दर एवं स्वस्थ बनाने का उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं। सात वर्ष की अवस्था में वे उसे घोड़े पर चढ़ना व मृगया करना सिखाते हैं। चौदह वर्ष की अवस्था में वह अधिराज्य के चार सबसे विद्वान्, सबसे न्यायपरायण, सबसे उदार स्वभाव के तथा सबसे वीर पुरुषों के हाथों में सौंप दिया जाता है। प्रथम उसे धर्म की दीक्षा देता है, दूसरा उसे सत्य का पवित्रता से पालन करने का पाठ पढ़ाता है, तीसरा उन्माद पर विजय पाना तथा चौथा पूर्णतः निर्भीक होना सिखाता है। मैं कह सकता हूँ कि सभी उसे सदाचारी बनने की दीक्षा देते हैं। परन्तु एक भी उसे विद्वान् बनाने की चेष्टा नहीं करता।

जेनोफोन (Xenophon) में एस्टीयेजेज (Astyages) साइरस

एक बुद्धिमान् व्यक्ति सम्पत्ति के पीछे नहीं दौड़ता किन्तु वह यश के प्रति अचेत नहीं रहता और जब वह उसके बँटवारे में इतनी विषमता देखता है तो उसके सद्गुण, जो किंचित् प्रतिस्पर्धा से प्रदीप्त हो उठते और समाज के कल्याण में सहयोग देते, शिथिल हो जाते एवं दारिद्र्य तथा अंधकार में मर जाते हैं। इसी कारण से सभी जगह लाभदायक कलाओं से अनुकूल कलाएँ अधिक पसंद की जाती हैं और कला तथा विज्ञान के पुनस्तथान के उपरान्त इस सत्य की मली-माँति पुष्टि हो चुकी है। हमारे मध्य भौतिकी के विशेषज्ञ, ज्यामिति के ज्ञाता, रसायन शास्त्र में पारंगत, नक्षत्र विद्या में निपुण, कवि, संगीतज्ञ और चित्रकार बहुत हैं, परन्तु कोई नागरिक नहीं रह गया है और यदि कहीं हमारे परित्यक्त ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ पड़े हों भी तो वे अज्ञात तथा उपेक्षित मृत्यु की प्रतीक्षा करने के लिए छोड़ दिये गये हैं। इस सीमा तक हमारा ह्रास हो गया है और जो हमें दैनिक भोजन और हमारे बच्चों को दूध देते हैं, उनके प्रति हमारी ऐसी भावनाएँ हैं।

तो भी, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि दोष इतना अधिक गंभीर नहीं है जितना कि वह हो सकता था। अनन्त परमेश्वर ने हानिकारक पौधों के पास विलक्षण

(Cyrus) से अपने अन्तिम पाठ का वर्णन देने को कहता है। साइरस ने उत्तर दिया कि यह ठीक उसी तरह है जिस तरह विद्यालय के बड़े लड़के ने अपना छोटा कोट एक छोटे लड़के को दे दिया और उससे उसका कोट (लबादा) ले लिया, जो बड़ा था। मेरे स्वामी ने मुझे इस विवाद में निर्णायक नियुक्त कर दिया था इसलिए मैंने आज्ञा दी कि दोनों को उसी दशा में रहने दिया जाय, क्योंकि दोनों ही पहले से अधिक अनुकूल परिस्थितियों में थे। स्वामी ने मुझे यह कहते हुए धिक्कारा कि मैंने केवल सुविधा का ध्यान रखा, जब कि न्याय को प्राथमिकता देनी चाहिए थी, और न्याय सिखाता है कि किसी को भी अपनी अधिकृत चोजों में प्रभावयुक्त हस्तक्षेप नहीं सहन करना चाहिए। उसने आगे कहा कि वह अपने त्रुटिपूर्ण निर्णय के लिए उसी प्रकार दंडित किया गया जैसे कि विद्यार्थी विद्यालयों में दंडित किये जाते हैं जब कि वे प्रथम अनिश्चित काल-सूचक भूतकाल को क्रिया भूल जाते हैं। इससे पहले कि मेरा शिक्षक मुझे विश्वास दिलाता कि उसका विद्यालय इतना ही अच्छा है, उसे चाहिए कि मुझे एक प्रभावशाली वक्ता बना दे।

सरलता से उगने वाली जड़ी-बूटियों को उगाकर और विषैले जीवों के ही अन्दर उनकी विषनाशक औषध उपलब्ध कराकर पृथिवी के संप्रभुओं को, एक आकर्षक शिक्षा दी है कि वे उसके विवेक का अनुकरण करें। इस उदाहरण का अनुसरण करके ही वास्तव में एक बड़े राजा ने, जिसकी कीर्ति में प्रत्येक युग कुछ न कुछ नयी कांति जोड़ देता है, सदाचार की अपेक्षा सहस्रों भ्रष्टताओं के उद्गम-रूप कला और विज्ञान की अन्तरात्मा से उन प्रसिद्ध समाजों (मंडलियों) को निकाला है, जो मानव-ज्ञान की भयंकर धरोहर के आकर होते हुए भी अपने मध्य पूर्ण पवित्रता के साथ सदाचरण की रक्षा के लिए ध्यान देने तथा प्रत्येक सदस्य से प्रवेश के समय उनका पालन कराने के कारण, सदाचार के पवित्र संरक्षक भी हैं।

उसके महान् उत्तराधिकारी द्वारा पुष्ट तथा यूरोप के सभी राजाओं द्वारा अनुकृत, ये विवेकसम्मत संस्थाएँ कम से कम उन साहित्यिकों को नियंत्रण में रखने में सहायक होंगी जो इन अकादमियों में प्रविष्ट होने के इच्छुक होने के कारण अपने पर निगरानी रखेंगे और लाभप्रद प्रदर्शनों तथा अनिन्दनीय आचरणों द्वारा ऐसे सम्मान के उपयुक्त होने का प्रयत्न करेंगे। ये संस्थाएँ वा अकादमियाँ भी, साहित्यिक क्षमता के लिए पुरस्कार प्रस्तावित करते समय ऐसे विषयों का चयन करती हैं जो नागरिकों के हृदयों में सद्गुणों के प्रति प्रेम पैदा करने की योग्यता रखते हैं, मानों यह प्रमाणित करती हैं कि उनमें सद्गुणों का आदर है। इन्हें मनुष्यों को इस बात का यथार्थ आनन्द प्रदान करना चाहिए कि ये विद्वत्समाज (Societies) को न केवल मस्तिष्क की अनुकूल क्रियाओं वरन् उपयोगी आदेशों द्वारा भी, प्रेरित कर रही है, जिसे वह मानव समाज की उन्नति करने में तत्पर है।

एक आपत्ति जो इसमें की जा सकती है, उससे वास्तव में मेरे तर्क की और भी पुष्टि हो जाती है। इतनी अधिक पूर्व चिन्ता प्रत्यक्ष रूप में उसकी आवश्यकता प्रमाणित करती है। हम कभी उन दोषों के उपाय नहीं खोजते जो अपना अस्तित्व ही नहीं रखते, अपनी असफलता के कारण इन्हें सामान्य औषध क्यों समझना चाहिए? विद्वानों के पक्ष में स्थापित विभिन्न कार्यालय केवल विज्ञान के लक्ष्यों को गलत रूप से समझने के लिए और उनका ध्यान हटाकर उसकी उन्नति पर लगाने के लिए ही बने हुए हैं। प्रत्येक स्थान पर इतनी सावधानी बरती जाती है, कि कोई भी इस विचार के लिए तैयार हो जायगा कि हम बड़ी संख्या में किसानों से भरपूर है और दार्शनिकों की कमी से भयभीत हैं। मैं यहाँ कृषि एवं दर्शन में तुलना करने का साहस नहीं करूँगा क्योंकि वे उमे सहन न कर पायेंगे। मैं केवल यही पूछूँगा कि

दर्शनशास्त्र क्या है ? अत्यंत प्रशंसनीय दार्शनिकों की कृतियों में क्या रखा है ? इन बुद्धिमत्ता के समर्थकों के क्या उपदेश हैं ? उनको सुनते समय हम उन्हें उन असंख्य बहानेबाजों की तरह क्यों न समझें जो अपने को जनता के सामने प्रदर्शित करते हैं तथा चिल्ला-चिल्लाकर कहते हैं—“यहाँ, यहाँ मेरे पास आओ, मैं ही केवल सच्चा चिकित्सक हूँ।” उनमें से एक सिखाता है कि पदार्थ जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, प्रत्येक वस्तु केवल छाया में विद्यमान रहती है। दूसरा यह घोषणा करता है कि पदार्थ के अतिरिक्त कोई तत्त्व नहीं है और स्वयं विश्व के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं। तीसरा कहता है कि गुण और दोष कोई चीज नहीं है और आचरण-सम्बन्धी मलाई तथा दोष ऊटपटांग आकृति की मछली के समान हैं (जिनका अस्तित्व ही अनिश्चित है)। जब कि चौथा यह सूचित करता है कि मनुष्य केवल शिकार के जन्तु-तुल्य है और शुद्ध अन्तःकरण से एक दूसरे का भक्षण कर सकते हैं। मेरे महान् दार्शनिको, तुम ऐसे बुद्धिमानों के लाभप्रद आदेशों को अपने मित्रों तथा बच्चों के लिए क्यों सुरक्षित नहीं रखते हो ? तुम शीघ्र ही उनसे लाभ उठाओगे और हम तुम्हारे शिष्य बनने के लिए किसी मंशय में नहीं रह जायेंगे।

ऐसे वे आश्चर्यजनक मनुष्य हैं जिन्हें उनके समकालीन अपने जीवन-काल में सर्वोच्च सम्मान की दृष्टि से देखने थे और जिनको मृत्यु के पश्चात् अमरत्व प्रदान किया गया है। ऐसे उनके विद्वत्तापूर्ण सूत्र हैं जिन्हें हमने उनसे प्राप्त किया है और जो युग-युगान्तर तक हमारी सन्तति को संप्रेषित हैं। ब्रात्यूवाद (Paganism) में यद्यपि मानव-तर्क की समस्त अतिशयोक्तियाँ विद्यमान हैं, किन्तु उसने उन लज्जाजनक स्मारकों की भाँति कोई अवशेष नहीं छोड़े हैं जो ईसा के धर्मदेशों के युग में मुद्रण-कला द्वारा सर्जित हुए हैं। लियोसीपस (Leucippus) तथा दायगोराज (Diagoras) की अश्लील कृतियाँ अपने लिखनेवालों के साथ ही नष्ट हो गयी। उनकी समकालीन दुनिया मानवमस्तिष्क की अतिशयोक्तियों तथा त्रुटियों को अमरत्व प्रदान करने की कला से अनभिज्ञ थी। किन्तु धन्य है मुद्रण की कला तथा हमारे द्वारा होनेवाले उसके प्रयोग को, जिसके कारण हाव्स

१. यदि हम यूरोप में मुद्रण-कला द्वारा उत्पन्न भयानक विप्लवों पर विचार करें और उसके दिन-प्रति-दिन बढ़ते हुए दोषों की प्रगति से भविष्य का निर्णय करें तो यह पूर्व दर्शन करना सरल है कि राजसत्ताधारी भविष्य में उन कष्टों को अपेक्षा, जो उन्होंने उसके प्रोत्साहन से उठाये हैं, कहीं अधिक कष्ट उसे निर्वासित करने में

(Hobbes) तथा स्पिनोजा (Spinoza) की घातक विचारधाराएँ चिरंजीवी रहेंगी। ऐसी प्रसिद्ध कृतियाँ लुप्त हो जायें जिन्हें समझने में हमारे पूर्वजों की अबोधता तथा देहातीपन असमर्थ होता। जाओ, हमारी सन्तति के पास, उन और भी घातक कृतियों के साथ जाओ, जो वर्तमान युग के विकृत आचारों की दुर्गन्ध से मरी है। उन्हें मिलकर भावी सन्तानों के सम्मुख प्रगति, कला एवं विज्ञान के लाभों के सच्चे इतिहास को व्यक्त करने दो। यदि उनका अध्ययन किया जायगा तो जिस प्रश्न पर हम विवाद कर रहे हैं उसके विषय में कोई शंका नहीं रह जायगी और यदि मानवजाति उस समय हमसे भी अधिक मूर्ख न होगी तो अंतरिक्ष की ओर हाथ उठाकर हृदय की कटुता के साथ घोषित करेगी—“हे सर्वशक्तिमान् ईश्वर ! तुम्हारे हाथ में मनुष्यों के मन हैं, हमारे पूर्वजों की घातक कला एवं विज्ञान से हमें छुटकारा दिलाओ ; हमें पुनः अनभिज्ञता, निरीहता और दरिद्रता में डाल दो जो हमें सुखी बना सकती है और जो तुम्हारी दृष्टि में अमूल्य भी है।”

परन्तु यदि कला एवं विज्ञान की प्रगति ने हमारे वास्तविक आनन्द को नहीं बढ़ाया है; यदि इसने हमारे आचरण को भ्रष्ट किया है, और यदि उस भ्रष्टाचार ने हमारी सुरुचि को दूषित किया है, तो हम उन पाठ्यपुस्तक-लेखकों के समुदाय के विषय में क्या विचार रख सकते हैं, जिन्होंने उन स्कावटों को भी मार्ग से हटा

उठायेगे। सुलतान आकमेत (Achimmet) ने रूचि के कुछ कपटी समर्थकों की आग्रहपूर्ण याचनाओं को स्वीकार करके कुस्तुनतुनिया में एक मुद्रणालय स्थापित करने के लिए अनुमति दे दी थी, परन्तु वह कठिनाई से संचालित होने योग्य हुआ ही था कि वह उसे नष्ट करने के लिए और उस मशीन को कुएं में डालने के लिए बाध्य हुआ।

कहा जाता है कि खलीफा उमर से जब यह पूछा गया कि सिकन्दरिया के पुस्तकालय का क्या किया जाय, तो उन्होंने इन शब्दों में उत्तर दिया था:—“यदि पुस्तकालय की पुस्तकें कुरान शरीफ के विपरीत कोई चीज रखती हैं तो वे दोषपूर्ण हैं और उन्हें जला देना चाहिए; यदि वे केवल वही सिखाती हैं जो कुरान में बताया गया है तो वे अनावश्यक हैं।” हमारे साहित्यिकों द्वारा इस तर्क को मूर्खता की चरम सीमा बताया गया है, परन्तु यदि ग्रीगोरी महान् (Gregory the Great) उमर के स्थान पर होते और कुरान के स्थान पर बाइबिल, तो भी पुस्तकालय जला दिया जाता और यह उनके जीवन का सर्वोत्कृष्ट कार्य होता।

दिया है जिन्हें प्रकृति ने इस अभिप्राय से कलादेवियों के मंदिर के मार्ग में कि उनके द्वार की रक्षा हो और उनकी शक्तियों की परीक्षा हो जाय जो ज्ञा के लिए आकर्षित होते हैं। हम उन संकलनकर्ताओं के विषय में क्या वि सकते हैं जिन्होंने नासमझी से विज्ञान की चोरी की है और उनकी पवित्र के स्थान पर ऐसी जन-संख्या का प्रवेश कराया है जो उनके पास पहुँचने अनुपयुक्त थी। जब कि आशा यह की जाती थी कि उन सबको, जो पर्या करने के नितान्त अयोग्य समझे गये थे, द्वार से ही वापिस कर दिया जाय प्रकार उन कलाओं की ओर ढकेल दिया जाय जो समाज के लिए लाभद एक मनुष्य जो जीवन भर एक तुक्कड़ अथवा तृतीय श्रेणी का ज्यामिति रहा हो, एक उत्तम बजाज हो सकता था। जिनको प्रकृति ने अपना शिष्य था उन्हें स्वामी की आवश्यकता नहीं थी। मानवजाति के उन शिक्षकों-देकार्त और न्यूटन के स्वयं कोई गुरु नहीं थे। कौन-सा पथ-प्रदर्शक उनको उ तक ले जा सकता था जहाँ तक कि उनकी भव्य प्रतिभा उन्हें ले गयी। शिक्षक अपनी क्षमता की संकुचित सीमाओं में बाँधकर उनकी बुद्धि को कर देते। उन प्रारंभिक रुकावटों के कारण ही, जिनका उन्हें मार्ग में सामना करना पड़ता था, उन्होंने स्वयं प्रयत्न करना सीखा और उन क्षेत्रों को लाँघने के लिए परिश्रम किया जिन्हें वे पार कर सके। यदि विज्ञान के अध्ययन में तत्पर होने के लिए कुछ मनुष्यों को आज्ञा देना उचित तो ये केवल वे होने चाहिएँ जो अपने को इस योग्य समझते हों कि अकेले पद-चिह्नों पर चल सकेंगे और उनसे आगे निकल जायेंगे। यह इन्हीं कुछ की सामर्थ्य में है कि मानवज्ञान की कीर्ति में स्मारक निर्मित कर सके यदि हम चाहें कि उनकी प्रतिभा से ऊँचा कुछ न हो तो कोई चीज उनकी से भी परे नहीं होनी चाहिए। केवल इतना ही प्रोत्साहन है जो वे चाहते हैं। जिन लक्ष्यों पर सेवारत रहती है, उन्हींके प्रति अलक्ष्य रूप में अनुकूल हो और इस प्रकार यह सच है कि महान् अवसर ही महती आत्माओं को जन्म विश्व का सबसे बड़ा वक्ता रोम का कांसल^१ (Consul) था और संभवतः निकों में सबसे बड़ा इंग्लैण्ड का लार्ड चांसलर^२ था। क्या यह कल्पना की उ

१. प्राचीन रोमन गणराज्य में मजिस्ट्रेट या दंडाधिकारी।

२. इंग्लैण्ड की लार्ड सभा का अध्यक्ष।

है कि यदि प्रथम किसी विश्वविद्यालय में केवल प्रोफेसर और द्वितीय किसी अकादमी का वृत्तिभोगी (पेंशनर) होता तो उनकी कृतियाँ उनकी परिस्थितियों के कारण क्षतिग्रस्त न होतीं ? राजकुमारों को अपनी समितियों में उन लोगों को, जो उन्हें परामर्श देने के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं, लेने से हिचकिचाहट न प्रकट करने दो। उन्हें उस पुराने द्वेष को तिलांजलि देने दो जिसे महान् व्यक्तियों के इस गर्व ने जन्म दिया था कि मानवजाति पर शासन करने की कला उसे प्रशिक्षित करने से कहीं अधिक कठिन है, मानो मनुष्यों को स्वेच्छा से भलाई करने के लिए राजी कर लेना, उन्हें जर्बदस्ती भलाई करने पर विवश करने की अपेक्षा सरल रहा हो। प्रथम श्रेणी के विद्वानों को उनके दरबारों में सम्माननीय शरण पाने दो, वहाँ उन्हें एक मात्र अपने लिए उपयुक्त प्रतिकार का आनन्द लेने दो अर्थात् अपने प्रभाव से उन राष्ट्रों का सुख बढ़ाने दो जिन्हें अपनी बुद्धिमत्ता द्वारा उन्होंने प्रबुद्ध किया था। इसी साधन-द्वारा हम संभवतः यह देख सकते हैं कि सद्गुण, विज्ञान तथा सत्ता श्रेष्ठतम प्रतिस्पर्धा से प्रेरित होकर मानव जाति के सुख के लिए एक मत से कार्य करें तो क्या कर सकते हैं।

परन्तु जब तक शक्ति केवल एक पक्ष में है और ज्ञान तथा समझदारी दूसरे पक्ष में, विद्वान् क्वचित् ही महान् पदार्थों को अपने अध्ययन का विषय बनायेंगे, राजकुमार और अधिक कठिनता से महान् कार्य करेंगे और जनसाधारण, जिस प्रकार के वे अब हैं, नीच, भ्रष्ट तथा दुःखित बने रहेंगे।

जहाँ तक हम जैसे साधारण पुरुषों का प्रश्न है, जिन्हें दैव की ओर से ऐसी महती बुद्धि का वरदान प्राप्त नहीं हुआ है, और ऐसी कीर्ति की फसल काटने के लिए नियति ने हमें नहीं चुना है, हमें अनजाने ही जीवन व्यतीत करने दो। हमें ऐसी प्रसिद्धि की लालसा नहीं करनी चाहिए जो हम उपाजित न कर पायें और जो इन वर्तमान स्थितियों में उस कष्ट के योग्य नहीं जो हमें उसको प्राप्त करने के लिए पूर्णतः योग्य होने पर भी सहना ही पड़ता। हम दूसरों के मतों पर अपना सुख क्यों निर्भर रखें जब कि हम उसे अपने हृदय में ही पा सकते हैं। मानवजाति को अपने कर्तव्यों की ओर निर्देशित करने के कार्य को हमें दूसरों के लिए छोड़ देना चाहिए और स्वयं को अपने कर्तव्य-पालन तक ही सीमित रखना चाहिए। हमारे पास बृहत् ज्ञान के लिए इसके सिवा और कोई अवसर नहीं है।

सद्गुण ! सरलमना लोगों के भव्य विज्ञान ! क्या तुम्हें जानना चाहें तो इतने उद्यम तथा साधन की आवश्यकता है ? क्या तुम्हारे सिद्धान्त सभी हृदयों पर

अंकित नहीं हैं ? क्या तुम्हारे नियमों को जानने के लिए अपनी परीक्षा करने और जब वासनाएँ शान्त हों तब अन्तरात्मा की वाणी सुनने के अलावा भी और कुछ करना आवश्यक है ?

यह सच्चा दर्शन-शास्त्र है जिसके साथ हमें बिना उन प्रसिद्ध पुरुषों की कीर्ति की ईर्ष्या किये, जिनके नाम साहित्यिकों के गणतन्त्र में अमर हैं, सन्तोष करना सीखना होगा । उनसे ईर्ष्या करने के स्थान पर हमें प्रयत्न करना चाहिए कि हमारे और उनके बीच में वह सम्माननीय विभेद बना रहे जो प्रारम्भ में दो महान् राष्ट्रों के मध्य स्थापित देखा गया था जिसके अन्तर्गत एक बोलना जानता था और दूसरा सही रूप से कार्य करना ।

[२]

असमानता का उद्गम

एक वार्ता

(ए डिस्कॉर्स ऑन दि ओरिजिन ऑफ इनइक्वैलिटी)

दीजां (Dijon) की अकादमी द्वारा प्रस्तावित

“मानव में असमानता का उद्गम क्या है

और

क्या यह प्रकृति के नियमों द्वारा अधिकृत है ?”

विषय पर

[हमें विचार करना चाहिए कि उन वस्तुओं में नैसर्गिकता क्या है, जिनकी

व्यवस्था वास्तव में प्रकृति के अनुसार हुई है, न

कि उनमें जो भ्रष्ट हो चुकी हैं।]

(अरस्तू—‘राजनीति’ पुस्तक १, अध्याय २)

Non in depravatis, sed in his quoe bene secundum naturam
se habent, considerandum est quid sit naturale.

—Aristotle, Politics, Bk. i. Ch. 2.

जनेवा के गणतंत्र को समर्पण

परम आदरणीय, महाप्रतापी एवं सार्वभौम सत्ताधिकारी प्रभुओं !

इस बात में विश्वास रखते हुए कि केवल एक सद्गुणी नागरिक ही अपने देश को वह गौरव प्रदान कर सकता है, जो देश स्वीकार कर सके, मैं गत तीस वर्षों से आपको कोई सार्वजनिक सम्मान अर्पित करने के ध्येय से अपने को योग्य बनाने के लिए कार्य करता रहा हूँ। और इस धन्य अवसर पर, जो कुछ सीमा तक मेरे प्रयासों की अपर्याप्तता की पूर्ति करता है, मैंने अपने को इसका अधिकारी समझा—उन उत्साहवर्धक प्रेरणाओं को अंगीकार करने के कारण जो मुझे उत्साहित कर रही हैं न कि उस अधिकार से जो मेरा होता। आप लोगों के मध्य उत्पन्न होने का सुखद सौभाग्य प्राप्त करते हुए मैं, मनुष्यों में प्रकृति-प्रदत्त समानता तथा मनुष्यों-द्वारा प्रचारित असमानता पर बिना उस गहरे विवेक पर ध्यान दिये, कैसे विचार कर सकता था, जिसके द्वारा इस राज्य में दोनों का सुखद समन्वय किया गया है और दोनों इस भाँति अनुरूपित हैं कि वे पूर्णरूपेण प्राकृतिक नियमों के अनुसार प्रतीत होती हैं, और समाज के लिए व्यक्तिगत आनन्द बढ़ाने एवं लोकानुशासन स्थापित करने के हेतु, नितान्त अनुकूल हैं।

सामान्य विवेक पर आधारित शासन-विधान सम्बन्धी सर्वोत्तम धाराओं की खोज करते हुए मुझे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि वे सब वास्तव में आप के विधान में विद्यमान हैं। यदि मैं आप लोगों की सीमा में न भी उत्पन्न हुआ होता तो भी इस बात को मैं अनिवार्य समझता कि मानव समाज के इस चित्र को उस राष्ट्र के सम्मुख प्रस्तुत करूँ जो और सबसे बढ़कर इसके सर्वाधिक महत्त्व से परिचित है, व इसकी बुराइयों से पूर्णतः सुरक्षित है।

यदि मुझे अपना जन्मस्थान चुनने की स्वतन्त्रता प्राप्त होती तो मैं ऐसा समाज पसंद करता जिसका विस्तार मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों की सीमाओं के अनुपातानुकूल होता, अर्थात् जिसके सुशासित होने की सम्भावना होती; जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय के उपयुक्त होने के कारण, अपने उत्तरदायित्व को दूसरों पर डालने की कोशिश न करता; एक ऐसा राज्य, जिसमें सब एक दूसरे से ऐसे

सुपरिचित होते कि न तो पाप की गुप्त मंत्रणाएँ और न सदाचार की विनम्रता जन-साधारण की दृष्टि एवं निर्णय से छिपी रह सकती और जिसमें एक दूसरे को देखने तथा जानने की रुचिकर रीति, देश प्रेम को, घरती के मोह से नागरिकों के पारस्परिक प्रेम में परिणत कर देती।

मैं तो ऐसे देश में जन्म लेने का इच्छुक होता जिसमें राजा एवं जनता का हित इस सीमा तक एक और अभिन्न होता कि शासनयंत्र की सभी गति-विधियाँ सदैव सार्वजनिक आनन्द की प्रेरक होतीं। और चूँकि यह स्थिति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक कि राजसत्ताधारी और जनता एक ही न हों, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुझे ऐसे लोकतंत्र में जन्म लेने की इच्छा करनी चाहिए थी जिसका संचालन विवेकपूर्ण हो।

मेरी हार्दिक इच्छा होती कि मैं स्वतंत्र रहूँ और स्वतंत्र मरूँ—उन नियमों के अनुशासन में रहते हुए और उस गरिमामय जुए को वहन करते हुए जिसे न मैं, न कोई अन्य व्यक्ति उतार कर फेंक सकता है—ऐसा सुगम तथा हितकर (जुआ) जिसको गर्वीले से गर्वीले कन्धे बड़ी विनम्रता के साथ वहन करते हैं, क्योंकि उसके अतिरिक्त उन्हें और कुछ वहन नहीं करना पड़ता।

तब मेरी इच्छा होती कि राज्य के अन्तर्गत कोई व्यक्ति यह न कह सके कि वह नियमों से मुक्त है तथा कोई विदेशी यह साहस न कर सके कि राज्य उसकी शक्ति को मानने के लिए बाध्य है। क्योंकि शासकीय संविधान चाहे किसी प्रकार का हो, यदि उसके अधिकारक्षेत्र में एक भी ऐसा व्यक्ति है जो नियमों की अवहेलना करता है तो अन्य समस्त भी उसकी स्वेच्छा पर आश्रित हो जाते हैं और यदि कोई देशी शासक सीमा के अन्दर हो, तथा कोई विदेशी शासक बाहर हो, तो दोनों अपने अधिकार को चाहे किसी भाँति भी क्यों न बाँटे, यह असम्भव है कि दोनों की आज्ञाओं का सुचारु रूप से पालन हो सके, या राज्य सुशासित रह सके।

आधुनिक काल के गणतंत्र में, चाहे उसके नियम कितने ही उत्तम क्यों न हों, मैं स्वेच्छा से इस भय से रहना न चाहता कि कदाचित् उसका शासनतंत्र उपस्थित परिस्थितियों के अनुकूल निर्मित न होने के कारण वह नवीन नागरिकों से सहमत न हो या उसके साथ वे सहमत न हों और राज्य निर्मित होते ही अपने उलट दिये जाने अथवा विध्वंस होने के संकट में पड़ जाय। क्योंकि जिस भाँति गरिष्ठ तथा रसीला भोजन अथवा उदार मद्य उन बलिष्ठ शरीरों को, जो उसका उपयोग करते हैं, पोषण पहुँचाने तथा बल देने के पूर्णतः उपयुक्त होता है, परन्तु दुर्बल एवं कोमल

शरीर वालों को उन्मत्त करके नष्ट कर देता है, ठीक उसी भाँति स्वतंत्रता भी लोगों पर अपना प्रभाव डालती है। जो राष्ट्र शासकों के अधीन रहने के अभ्यस्त हो जाते हैं वे उनके बिना नहीं रह सकते। यदि वे कभी पराधीनता रूपी बंधन को उतार फेंकने का प्रयास करते हैं तो अपने को स्वतंत्रता से और अधिक विमुख कर लेते हैं और उस उच्छृंखलता को, जो स्वतंत्रता के पूर्णतया विपरीत होती है, अपने आन्दोलनों द्वारा मूल से अपनाकर अपने आपको पथभ्रष्ट करनेवाले ऐसे लोगों के चंगुल में फँसा देते हैं जो उनकी दासता की वेड़ियों को और भी अधिक बोझिल बना देते हैं। रोम की प्रजा भी, जो सभी स्वतंत्र राष्ट्रों के लिए आदर्श थी, वही तारक्विंस (Tarquins) के आतंक से मुक्ति पाने के बाद अपना शासन करने में असमर्थ रही। दासता से और अपने ऊपर लादे गये निन्दनीय कार्यों से पतित होकर प्रारंभ में वे लोग एक अशिष्ट भीड़ से अच्छे नहीं थे और जिन्हें श्रेष्ठतम विवेक से नियंत्रित तथा शासित रखना अति आवश्यक था, जिससे वे धीरे धीरे स्वतंत्रता के स्वस्थ वायुमंडल में साँस लेने के अभ्यस्त हो सकें और जो मन से अति अपरिष्कृत अथवा अन्याय से बर्बर बन गये थे, वे शनैः-शनैः उस नैतिक कठोरता तथा साहस की प्रवृत्ति को प्राप्त कर सकें जो अन्त में देश वा जाति को सम्मान के योग्य बनाती हैं। ऐसी स्थिति में, मैं अपने देश के रूप में कोई ऐसा शान्त तथा आह्लादकारी प्राचीनतम गणतंत्र ढूँढ़ निकालता जो कि कालरूपी रात्रि में लय हो गया हो; जिसने केवल ऐसे झटके अनुभव किये हों जिनमें उसकी प्रजा का साहस एवं देश-प्रेम प्रकट और दृढ़ हुआ हो और विवेकपूर्ण स्वाधीनता के दीर्घकाल से अभ्यस्त जिसके नागरिक न केवल स्वतंत्र हों, वरन् उसके योग्य भी हों।

मेरी इच्छा तो यह होती कि मैं ऐसे देश को अपनाता जो भाग्यशालिनी असमर्थता के कारण बर्बर विजयोन्माद से विरक्त रहता; जो इससे भी सौभाग्य-शाली परिस्थिति के कारण इस आशंका से सुरक्षित रहता कि स्वयं कहीं अन्य राज्यों-द्वारा विजित न हो जाय। अनेक राष्ट्रों के मध्य स्थित वह ऐसी स्वतंत्र नगरी होती, जिस पर आक्रमण करने का उनमें से किसी का भी लक्ष्य न होता, बल्कि बाह्य आक्रमणों के समय उसकी सहायता के लिए उनमें से प्रत्येक उद्यत होता। संक्षेप में, उसे ऐसा गणतंत्र होना चाहिए जो पड़ोसियों की महत्वाकांक्षा को लालायित न कर सके, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता पर निर्भर रह सके। इससे परिणाम निकलता है कि गणतंत्र राज्य यदि इस प्रकार की सुखद परिस्थिति में हो तो अपने अतिरिक्त उसे किसी अन्य से कोई भय नहीं होगा, और

यदि उसके सदस्य सैनिक प्रशिक्षण भी लेते हैं तो वह केवल सैनिक उत्साह एवं चैतन्य को, जो स्वतंत्र नागरिकों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं और जो स्वतंत्रता में उनकी रुचि बनाये रखते हैं, जीवित रखने के लिए ही होगा, न कि अपनी सुरक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु।

मुझे तो ऐसा देश खोजना चाहिए था जहाँ विधि-निर्माण का अधिकार उसके समस्त नागरिकों में निहित हो। क्योंकि उनसे और अधिक कौन उत्तम निर्णय कर सकता है कि किन परिस्थितियों में वे सम्मिलित रूप से एकही समाज में भली प्रकार रह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं रोमनिवासियों की उस सबसे मत लेकर निर्णय करने की विधि (प्लेबिसाइटा) का समर्थन करता, जिसके अन्तर्गत राज्य के शासक तथा वे व्यक्ति जो उसे बनाये रखने में रुचि रखते थे, उन वार्ताओं से पृथक् रखे जाते जिन पर अधिकतर देश की सुरक्षा निर्भर थी और जिनमें अत्यन्त मूर्खतापूर्ण असंगति के कारण दंडाधिकारियों को उन अधिकारों से वंचित रखा जाता था जो तुच्छ से तुच्छ नागरिक को भी उपलब्ध थे।

इसके विपरीत, मैं यह चाहता कि स्वार्थपूर्ण तथा गलत ढंग से कल्पित योजनाओं को तथा सभी ऐसे अन्य अनिष्टकारी नवीन प्रवर्तनों को, जिन्होंने एथेंस-निवासियों को नष्ट कर दिया था, रोकने के लिए व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक नागरिक को स्वेच्छा से नये अधिनियम प्रस्तावित करने की स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिए, बल्कि यह अधिकार तो केवल दंडाधिकारियों को ही होना चाहिए; उनको भी इतनी सतर्कता से इसको प्रयोग में लाना चाहिए, तथा जन-साधारण को ऐसे नियमों की स्वीकृति ऐसी सावधानी के साथ देनी चाहिए, और उनकी घोषणा इतनी गंभीरता से सम्पन्न होनी चाहिए कि संविधान में परिवर्तन करने के पूर्व समस्त नागरिकों को उसकी उपयोगिता के विषय में यह विश्वास करने का अवसर मिल जाय कि नियम-कानून जितने प्राचीन होते हैं उतने ही पवित्र और आदरणीय होते जाते हैं। ऐसे नियमों से मनुष्य शोष ही घृणा करने लगते हैं जो रोज-रोज बदलते रहते हैं और वे राज्य जो अपने प्राचीन रीति-रिवाजों की अवहेलना करने के अभ्यस्त हो जाते हैं, सुधारों के बहाने जिन बुराइयों के उन्मूलन का प्रयास करते हैं, उनसे कहीं अधिक बुराइयाँ प्रचलित कर देते हैं।

मैं ऐसे गणतंत्र को निश्चय ही कुशासित समझकर विशेष रूप से त्याज्य समझता, जहाँ की जनता ने दंडाधिकारियों के बिना ही काम चला लेने की कल्पना करके या उनको पराश्रयी अधिकार देकर, नागरिक प्रशासन तथा कानूनों का कार्यान्वय

घृष्टतापूर्वक अपने ही हाथ में रखा हो। आदिकालीन शासन का अवश्य ऐसा ही बेढंगा संविधान रहा होगा क्योंकि वह सीधे प्राकृतिक अवस्था से उत्पन्न हुआ होगा। यह एक दूसरी बुराई थी जिसने एथेंस के गणतंत्र के पतन में सहायता दी।

परन्तु मुझे तो ऐसे समाज को चुनना चाहिए था जिसमें अपने अधिनियमों को स्वीकृत करने तथा विशेष महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक मामलों को सामान्य सभा में निर्णय करके और शासकों के प्रस्ताव पर सम्माननीय न्यायाधिकरण संगठित करके नागरिकगण कई सम्माननीय पृथक्-पृथक् विभाग स्थापित कर चुके हों। तथा प्रत्येक वर्ष अपने सहचर नागरिकों में से कुछ सबसे योग्य एवं सच्चे व्यक्तियों को न्याय-व्यवस्था तथा शासन के लिए निर्वाचित कर लेते हों। सारांशतः यह ऐसा समाज हो जिसमें दंडाधिकारियों की पवित्रता जनसमुदाय के विवेक की साक्षी हो और प्रत्येक वर्ग एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करनेवाला हो। यदि ऐसे वातावरण में कोई विनाशकारी गलतफहमी जन-शांति भंग करने के लिए उठ खड़ी होती थी तो त्रुटि एवं अज्ञान के उस मध्यान्तर में भी उदारता, पारस्परिक सम्मान, अधिनियमों के प्रति सामूहिक आदर के चिह्न रहते थे। यही सामंजस्य के वास्तविक लक्षण तथा प्रतिज्ञाएँ थीं जो सत्य तथा स्थायी होती थीं। परम आदरणीय महाप्रतापी एवं राजसत्ताधारी प्रभुओं, यही ऐसे लाभ थे जो उस देश में मैं खोजता जिसको मैं अपनी जन्मभूमि बनाने के लिए चुनता। और यदि दैव-योग से इन सुखदायी परिस्थितियों में मध्यम जलवायु, उर्वरा भूमि तथा अंतरिक्ष के नीचे एक अत्यन्त मनोरम ग्रामीण वातावरण और उपलब्ध हो जाता, तो मैं केवल यह इच्छा करता कि उस सुखद देश की गोद में रहकर अपनी प्रसन्नता को समस्त कृपा-प्रसादों के उपभोग से पूर्ण करूँ; अपने सहयोगी नागरिकों के मधुर सम्पर्क में शांति से रहता हुआ, उनके आदर्शों का अनुसरण करता हुआ और मित्रता, मानवता तथा अन्य सद्गुणों के कर्तव्य का पालन करता हुआ अपने पीछे एक अच्छे नागरिक तथा एक सच्चे और गुणी देशभक्त की पावन स्मृतियाँ छोड़ जाऊँ।

परन्तु यदि मैं इतना भाग्यशाली न होता, अथवा मेरी सुबुद्धि देर में जगती और अन्य वातावरण में अपने दुर्बल तथा हतोत्साह जीवन के अंतिम क्षणों में अपने को त्रस्त पाता तो युवावस्था की घृष्टता के कारण शांतिमय विश्राम को खो बैठने के लिए पश्चात्ताप करते हुए कम से कम अपने हृदय में उन भावनाओं को ग्रहण करता जिनके सदुपयोग के अवसर से मैं अपने देश में वंचित रहा। अपने दूरस्थ नागरिक

बन्धुओं के प्रति कोमल एवं निःस्वार्थ प्रेम से प्रेरित होकर, मैं उन्हें हृदय से निम्नांकित शब्दों में सम्बोधित करता—

“मेरे प्रिय नागरिक सहचरो ! बल्कि मेरे बन्धुओ ! चूंकि रक्त-सम्बन्ध और कानून दोनों ही हमें एकता के सूत्र में बांधते हैं, इसलिए मुझे हर्ष होता है कि मैं तुम्हारे विषय में तब तक कोई विचार नहीं ला सकता जब तक कि उन सभी कृपा-प्रसादों को ध्यान में न ले आऊँ जिनका तुम सुखद उपभोग करते हो, और संभवतः जिनके महत्त्व के विषय में तुममें से कोई भी इतना गंभीर चिन्तन नहीं कर पाता है जितना कि मैं कर सकता हूँ, क्योंकि उन्हें खो बैठा हूँ। मैं तुम्हारी शिष्ट नागरिक एवं राजनीतिक परिस्थिति पर जितना ही मनन करता हूँ उतना ही मानव विषयों की प्रकृति को इससे अधिक अच्छी दशा में सोचने में असमर्थ रहता हूँ। अन्य समस्त शासन-प्रणालियों में जब अधिक से अधिक राज्य की भलाई सुनिश्चित करने का प्रश्न उठता है तो विचारों एवं योजनाओं अथवा केवल अधिक से अधिक संभावनाओं के आगे कुछ नहीं हो पाता। परन्तु जहाँ तक तुम्हारा प्रश्न है, तुम्हारा सुख पूर्ण है। तुम्हें तो उसका उपभोग करने के अतिरिक्त कुछ नहीं करना है। तुम्हें पूर्णरूपेण सुखी होने के लिए कुछ और नहीं चाहिए। केवल यह जानना है कि ऐसी परिस्थिति से किस भाँति सन्तुष्ट हुआ जा सकता है। तुम्हारी राज्यसत्ता चाहे स्वयं उपलब्ध हुई हो अथवा तलवार के बल पर पुनः प्राप्त की गयी हो और अपने पौरुष तथा विवेक से गत दो सौ वर्षों से स्थिर रखी गयी हो, अब अन्त में समस्त विश्व के द्वारा पूर्णतः मान्य है। तुम्हारे देश की सीमाएं निर्धारित हैं, तुम्हारे अधिकार सुरक्षित हैं, और तुम्हारा शांतिमय जीवन सम्माननीय संधियों द्वारा आरक्षित है। तुम्हारा संविधान उत्तम है क्योंकि वह न केवल अति गंभीर विवेक से निर्देशित है बरन् बड़े एवं मित्र राष्ट्रों द्वारा अंगीकृत है। तुम्हारा राज्य पूर्ण शांति का आनंद ले रहा है, तुम्हें न युद्धों की चिंता है और न विजेताओं का भय है। तुम्हारे ऊपर स्वतःनिर्मित अधिनियमों के अतिरिक्त किसी अन्य का अनुशासन नहीं है और ये नियम भी स्वतः चुने हुए सच्चे दंडाधिकारियों द्वारा कार्यान्वित हैं। न तो तुम इतने धनी हो कि मृदुता से क्षीण हो जाओ और तुच्छ विलासिता में तल्लीन होकर, वास्तविक सुख तथा साकार पवित्रता की प्रवृत्ति को नष्ट कर बैठो, और न तुम लोग इतने निर्धन हो कि अपने उद्यमों की क्षमता से परे तुम्हें विदेशों से सहायता प्राप्त करनी पड़े। साथ ही स्वतंत्रता के विशेषाधिकार के आरक्षण के लिए तुमको कोई मूल्य नहीं चुकाना

पड़ता, जब कि बड़े-बड़े राष्ट्र इसको केवल अत्यधिक छलकपट द्वारा ही सुस्थिर रख पाते हैं।

क्या ही अच्छा हो, यदि इस प्रकार विवेकपूर्ण एवं सुखद रूप से संगठित गण-तंत्र दूसरों के लिए एक आदर्श के रूप में सदैव स्थायी और अपने नागरिकों के लिए परमानन्द का विषय रहे। तुम्हारे लिए केवल यही एक प्रार्थना करना शेष रह गया है, केवल यही पूर्वावधान करना शेष है। उस परमानन्द को चिरस्थायी बनाने का भार केवल तुम्हारे ही ऊपर है (तुमको अपने आपको सुखी बनाने का प्रयत्न नहीं करना है क्योंकि इस कष्ट से तुम्हारे पूर्वज तुमको मुक्त कर गये हैं)। तुम्हारे अनवरत ऐक्य, कानूनों के प्रति तुम्हारी आज्ञाकारिता तथा प्रशासकों के प्रति तुम्हारे आदरभाव पर तुम्हारी सुरक्षा एवं स्थिरता निर्भर है। यदि तुम्हारे मध्य तनिक भी वैमनस्य तथा अविश्वास की भावना शेष है तो उसे शीघ्र ही समाप्त कर दो क्योंकि वह ऐसा अभिशाप है जो देर-सबेर में राष्ट्र पर दुर्भाग्य एवं सर्वनाश की विपदा ला सकता है। मैं निष्ठापूर्वक तुम सबसे अनुरोध करता हूँ कि अपने-अपने हृदय को टटोलो और अपनी अन्तरात्मा की गुप्त वाणी सुनो। क्या तुममें से कोई ऐसा नागरिक है जो समस्त ब्रह्मांड में, अपने दंडाधिकारियों से अधिक स्पष्टवादी, अधिक पक्षपात-रहित तथा अधिक सम्माननीय प्रशासकों की खोज कर सके? क्या उसके समस्त सदस्य तुम्हारे सम्मुख उदारता, शिष्टाचार के सारल्य, अधिनियमों के प्रति आस्था और सबसे पवित्र समन्वय का आदर्श नहीं हैं? अस्तु, ऐसे विद्वान् वरिष्ठ श्रेष्ठ महानुभावों में वह निरुद्विग्न विश्वास रखो जिसके लिए विचारशक्ति सदैव सद्गुणों की ऋणी है। यह ध्यान रखो कि वे तुम्हारे ही प्रतिनिधि हैं, वे तुम्हारे चयन के उपयुक्त प्रमाणित हुए हैं और उनके प्रति जो सम्मान है वह तुम्हारा ही है, क्योंकि वे तुम्हारे ही द्वारा गौरवान्वित हुए हैं। तुममें से कोई व्यक्ति इतना अनभिज्ञ नहीं है जो यह न जानता हो कि जब विधि या कानून का महत्त्व क्षीण हो जाता है तथा उसके आरक्षक अपना अधिकार खो बैठते हैं, तो सर्वसाधारण की सुरक्षा और स्वतंत्रता असम्भव हो जाती है। अतएव उसे सहर्ष एवं न्यायोचित विश्वास के साथ मानने में तुमको क्यों कोई हिच-किचाहट हो, जिससे अपने सच्चे हित, कर्तव्य और विवेक करने के लिए तुम बँध हुए हो।

संविधान की सुरक्षा में आपराधिक तथा हानिकारक उदासीनता की भावना को हरगिज न आने दो, तथा आवश्यकता पड़ने पर, अपने निष्पक्ष एवं उत्साही

नागरिक बंधुओं से विवेकपूर्ण परामर्श लेने में कभी उपेक्षा न करो। न्यायपरता, उदारता और प्रस्तावों की दृढ़ता द्वारा सदैव अपनी समस्त कार्रवाई को संचालित होने दो; समस्त विश्व के समक्ष अपने को एक ऐसे पराक्रमी एवं विनम्र राष्ट्र के रूप में प्रकट होने दो जो अपनी स्वतंत्रता और अपने सम्मान के प्रति समान रूप से ईर्ष्यालु भी है। अन्त में मैं यह परामर्श और दूंगा कि तुम ऐसी पापपूर्ण टीका-टिप्पणियों तथा विपैले मिथ्यापवादों से विशेष रूप में सतर्क रहो जिनके गुप्त मन्तव्य उन क्रियाकलापों की अपेक्षा अधिक भयानक होते हैं जिनको वे लक्ष्य बनाते हैं। सारा घर अपने उस अच्छे एवं विश्वासपात्र गृहरक्षक श्वान की चेतावनी पर जग जाता है और सावधान हो जाता है जो चोरों की केवल आहट पर ही भौंक उठता है। परन्तु हम उन शोर मचानेवाले कुक्कुरों की उहड़ता को घृणा की दृष्टि से देखते हैं जो सदैव जन-साधारण की शांति भंग करते रहते हैं और जिनकी अनवरत असामयिक चेतावनियाँ हमें उन पर उस समय ध्यान देने से रोकती हैं जब कि संभवतः उनकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।'

परम आदरणीय और वैभवशाली प्रभुओ! स्वतंत्र राष्ट्र के योग्य तथा आदरणीय दंडाधिकारियो! आप सब मुझे विशेष रूप से श्रद्धांजलि अर्पित करने की आज्ञा प्रदान करें। यदि इस संसार में कोई ऐसा पद है जिस पर आसीन व्यक्तियों को गौरव प्रदान किया जा सके तो निःसन्देह यह वह पद है जो सद्गुणों तथा विशेष विवेक वालों को प्राप्त होता है और जिसके लिए आप अपने को योग्य बना चुके हैं और जिस तक आपके नागरिक बन्धुओं ने आपको पहुँचा दिया है। उनकी योग्यता स्वयं आपके तेज को दीप्तिमान करती है, क्योंकि आपको ऐसे व्यक्तियों ने अपने पर शासन करने के लिए चुना है जो दूसरों पर शासन करने की क्षमता रखते हैं। अतएव मैं आपको अन्य सब न्यायाधिकारियों से उतना ही ज्यादा श्रेष्ठ मानता हूँ जितनी कि अपनी बुद्धि और विवेक के आधार पर एक स्वतंत्र जाति अन्य राज्यों की साधारण जनता से श्रेष्ठ होती है, विशेषतः वह स्वतंत्र जाति जिसकी अध्यक्षता करने का आपको गौरव प्राप्त है।

मुझे एक उदाहरण प्रस्तुत करने की अनुमति दीजिए जिसके और भी कई उत्तम अमिलेख विद्यमान होने चाहिए; और जो सदैव मेरे हृदय के अत्यन्त निकट रहेगा। मधुरतम हृदयोद्गारों से ओतप्रोत हुए बिना मैं उस पवित्र नागरिक का स्मरण नहीं कर सकता जिसका मैं अपने जीवन के लिए ऋणी हूँ और जिसने मुझे बचपन से ही आपके प्रति श्रद्धा प्रकट करना सिखाया था। मैं अब भी

उन्हें अपनी कृतियों द्वारा जीवित और उसकी आत्मा को गंभीरतम सत्यों का आनंद लेते हुए पाता हूँ। मैं टैसीटस (Tacitus), प्लूटार्क (Plutarch) और ग्रोशस (Grotius) की कृतियों को उसके सम्मुख, उसके व्यवसाय के औजारों के मध्य बिखरे हुए देख रहा हूँ। उसके समीप उसका परमप्रिय पुत्र खड़ा है जो अपने पिता की सर्वोत्तम कोमल मंत्रणाएँ सुनता है, यद्यपि वह उनसे अधिक लाभान्वित नहीं हो पाता। परन्तु यदि युवावस्था की मूर्खताओं ने मुझे उसके विवेकपूर्ण उपदेशों को कुछ समय के लिए भूल जाने को बाध्य किया, तो अन्त में मुझे इस बात की चेतावनी से प्रसन्नता है कि व्यक्ति में दुराचार की और कोई भी दुष्प्रकृति क्यों न हो, उस शिक्षा को पूर्णतः भूल जाना सम्भव नहीं है जिसके साथ प्रेम का सम्मिश्रण रहा है।

मेरे परम आदरणीय तथा वैभवशाली सामन्तगण ! इस राज्य के नागरिक तथा जन-साधारण भी, जिन पर आप शासन करते हैं; इस प्रकार के हैं; ऐसे हैं वे चतुर तथा चैतन्यशील व्यक्ति जिनको श्रमिक तथा जनता का नाम देकर प्रायः अन्य राष्ट्रों में उनके विषय में तुच्छ और असत्य धारणा बना ली जाती है। मैं हर्ष के साथ स्वीकार करता हूँ कि मेरे पिता अन्य नागरिक बन्धुओं से किसी भी भाँति भिन्न नहीं थे; वे ऐसे ही थे जैसे कि अन्य सब होते हैं। तिस पर भी जैसे वे थे, कोई देश ऐसा नहीं जिसमें उनका सम्पर्क सर्वोत्तम आचरण वाले शिष्ट जनों द्वारा वांछनीय न होता। मेरे लिए न यह उचित है, न आवश्यक, कि भगवान् की दया से मैं आपका ध्यान उस आदर भाव की ओर आकृष्ट करूँ जिसकी ऐसे व्यक्ति अपने दंडाधिकारियों से उचित ही आशा करते हैं; वे अपनी शिक्षा, प्राकृतिक और जन्म के अधिकार, दोनों, के कारण आपके दंडाधिकारियों के समान हैं, फिर भी उन्होंने केवल स्वेच्छा से आपके गुणों को अधिक आदर देते हुए अपने लिए निम्न पद चुना है तथा इस आदान के लिए वे आपसे एक प्रकार की उपकार-स्वीकृति के अधिकारी हैं। मुझे यह जानकर अत्यन्त स्फूर्तिदायक संतोष होता है कि उनके प्रति आपके व्यवहार में सर्वाधिक सत्यनिष्ठा तथा विनीत भाव निहित है—उस गंभीरता के साथ जो न्यायाधिकारियों को शोभा देती है। और जिस आदर तथा आज्ञाकारिता के आप उनके प्रति ऋणी हैं, उसे उनके प्रति अपनी आदर और सत्कारभावना प्रकट करके आप पूर्ण रूप से चुका देते हैं। यह आचरण न केवल न्यायसंगत है वरन् विवेकपूर्ण भी है, क्योंकि वह अनेक दुःखद घटनाओं की स्मृतियों को मिटानेवाला बन जाता है जिनको कि सदैव के लिए विस्मृति के गर्त में विलुप्त

हो जाना चाहिए था। यह तो और भी अधिक न्यायसंगत होता, क्योंकि वह उदार था निष्पक्ष व्यक्तियों को अपने कर्तव्य-पालन में सुख का अनुभव कराता है तथा उन्हें आपके प्रति स्वामाविक रूप से सम्मान प्रदर्शन करने के लिए प्रेरित करता है और उन व्यक्तियों को, जो अपने अधिकारों को बनाये रखने में सबसे अधिक उत्साही रहते हैं, आपके अधिकारों के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के लिए दृढ़ बनाता है।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि एक शिष्ट समाज के शासकों के हृदय में अपने समुदायों की भलाई एवं कीर्ति का ध्यान होना चाहिए। परन्तु मनुष्यों की शांति-भावना के लिए यह बात असाधारण रूप से सौभाग्य की होती है कि जो व्यक्ति अपने को दंडाधिकारियों के रूप में, बल्कि एक अधिक पवित्र तथा महान् देश के प्रशासक के रूप में देखते हैं, वे उस भूमि के प्रति भी प्रेम दिखायें जो उनका पोषण करती है। मुझे प्रसन्नता है कि अपने पक्ष में ऐसा विशेष अपवाद करने की मुझमें क्षमता है। कानून द्वारा स्थापित निष्ठा की पवित्र आराधनों के जो संरक्षक हैं वे स्वयं हमारे सर्वोत्तम नागरिकों में गिने जाने योग्य हैं; वे हमारी आत्माओं के गड़रिए-सदृश आदरणीय संरक्षक हैं जिनकी शक्ति-शाली एवं मोहक वाक्पटुता ईसा के धर्मोपदेशों को मनुष्य के अन्तःकरण में प्रविष्ट नाने के लिए सर्वोपयुक्त है, क्योंकि वे स्वयं पहले उनको अपने आचरण में क्रिया-न्वित कर चुके हैं। सारा विश्व जानता है कि जेनेवा में वक्तृत्व कला किस माँति की सफलता के साथ प्रयोग में लायी जाती है। परन्तु जन-साधारण धार्मिक वक्ताओं की कथनी और करनी की भिन्नता के सुनने तथा देखने के इतने अम्यस्त हो गये हैं कि बहुत कम लोगों को यह जानने का अवसर मिलता है कि हमारे मस्त प्रशासनाधिकारियों में, पादरी वर्ग में, ईसाई धर्म की भावना, आचरण की विव्रता, अपने प्रति कठोर संयम तथा पड़ोसियों के प्रति सद्भावना कहाँ तक प्राप्त है। संभवतः यह केवल जेनेवा के नगर का ही विशेष सौभाग्य है कि वह अधिकारियों तथा विद्वान् लेखकों के मध्य पूर्ण सामंजस्य का शिक्षाप्रद आदर्श प्रस्तुत करता है। यह केवल बहुत अंशों में उनकी विद्वत्ता, उनकी ज्ञात उदारता तथा राज्य के समृद्धि के प्रति उनकी उत्साहपूर्ण भावना का ही परिणाम है कि मैं उसकी वरस्थायी शान्ति की आशा रखे हुए हूँ। साथ ही साथ मैं एक आश्चर्य एवं श्रद्धा-मिश्रित आह्लाद से देखता हूँ कि वे उन पापी एवं बर्बर पुरुषों के भयानक सिद्धान्तों की कितनी घृणा करते हैं, जिनके विषय में इतिहास अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता

है और जो दैव के मिथ्या अधिकारों का समर्थन करने के निमित्त अर्थात् अपने स्वयं के स्वार्थों को पूर्ण करने के लिए तब तक व्यक्तियों के रक्त से हाथ रँगते जाते थे जब तक उनको पूरी आशा रहती थी कि उनके रक्त का सम्मान कायम रहेगा।

मुझे गणतंत्र के उस अमूल्य अर्द्धांग को नहीं मूलना चाहिए जो दूसरे अंग के आनंद का कारण बनता है और जिसकी मधुरता और विद्वत्ता, शांति एवं पवित्रता स्थिर रखने में सहायक होती है। जेनेवा की सुशील तथा पावन पुत्रियो ! यह तुम्हारी जाति का एकाधिकार है कि हमारे वर्ग पर अनुशासन रखो। हम लोग उस समय तक सुखी हैं जब तक कि वैवाहिक बन्धन के अन्तर्गत तुम्हारा पवित्र प्रभाव इस राज्य के गौरव तथा जनता के सुख के ही लिए क्रियाशील है। स्पार्टा में स्त्री जाति ने अपना ऐसा ही शासन स्थापित किया था। तुम जेनेवा में वैसा ही शासन करने के उपयुक्त हो। ऐसा कौन बर्बर पुरुष हो सकता है जो अपनी प्यारी पत्नी की मर्यादा एवं तर्कपूर्ण शब्दों को भी अनसुना कर द। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो उस सरल और शिष्ट पहिनावे के सम्मुख, जो तुम्हारे द्वारा कान्तिमान होकर सौन्दर्य का सर्वोत्तम प्रसाधन बन गया है, विलासिता के मिथ्या-डम्बर को घृणास्पद न समझे ? यह तुम लोगों का कर्तव्य है कि अपने प्रेरक प्रभाव तथा विनीत एवं निर्दोष शासन-द्वारा नागरिकों में राज्य के अधिनियमों के प्रति आदरभाव तथा सामंजस्य को चिरस्थायी बनाये रखो। यह भी तुम्हारा ही उत्तरदायित्व है कि मित्र परिवारों को सुखद वैवाहिक सम्बन्ध द्वारा एक सूत्र में पुनः बाँधो और सबसे महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व तुम्हारा यह है कि अपने उपदेशात्मक उत्तेजक माधुर्य से तथा अपने सम्भाषण की शिष्टशालीनता से उन व्यर्थ की बातों को सुधारो जिन्हें हमारे युवा पुरुष दूसरे देशों से ग्रहण कर लेते हैं और जहाँ से अनेक उपयोगी वस्तुएँ, जिनसे कि वे लाभान्वित हो सकते थे, लाने के स्थान पर चरित्रहीन स्त्रियों के सम्पर्क में सीखी सारहीन गर्वोक्ति और हास्यास्पद व्यवहार के साथ ही मेरे लिए अगम्य, तथाकथित वैभव तथा दास बनने के तुच्छ प्रतिदान के प्रति प्रशंसा, जो कमी स्वतंत्रता की वास्तविक महत्ता के बराबर नहीं हो सकती, के अतिरिक्त और कुछ नहीं लाते। इसलिए तुम वही बनी रहो जो तुम हो अर्थात् तुम हमारे सदाचार की पवित्र, निर्मल अभिभावक और हमारी शांति की मधुर सुरक्षा बनी रहो और अपने हृदय तथा प्रकृति के विशेषाधिकारों-द्वारा हमको प्रत्येक अवसर पर कर्त्तव्य तथा नैतिक गुणों के पक्ष में प्रेरित करती रहो।

मैं आत्म-प्रशंसा का अपराध करते हुए कहता हूँ कि ऐसी नींव (आधार) पर

नागरिकों के साधारण सुख और गणतंत्र के गौरव की आशा रखने में मैं कभी भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध न हो सकूंगा। यह कहना पड़ेगा कि इन समस्त लाभों के होते हुए भी हममें वह चमक न आवेगी जिससे अधिकांश पुरुषों के नेत्र चकाचौंध हो जाते हैं—एक निरर्थक एवं घातक रुचि जोकि सुख तथा स्वतंत्रता का सबसे अधिक घातक शत्रु है।

हमारे कामुक युवकों को, तुच्छ भोग तथा लम्बे पश्चात्तापों को कहीं और खोजने दो। हमारे रुचि के कपटी आलोचकों को अन्य स्थानों के महलों के वैभव, प्रसाधनों की सुन्दरता तथा सज्जा की बहुलता, सार्वजनिक दावतों की शानशौकत और कोमलता एवं विषय-सुख की सभी भावनाओं की प्रशंसा करने दो। जेनेवा मानवों के अतिरिक्त किसी का गौरव नहीं करता। ऐसा दृश्य अपना ही मूल्य रखता है और जिन्हें ऐसी वस्तु की रुचि है वे अन्य सबके प्रशंसक बनने योग्य हैं।

परम आदरणीय, वैभव-सम्पन्न एवं सत्ताधारी प्रभुओ! मैं आपकी साधारण समृद्धि में कितनी रुचि रखता हूँ इसका आदरसूचक प्रमाण आप प्रसन्नता तथा उदारतापूर्वक स्वीकार करें। और अपने हृदय के उद्दीप्त प्रवाह के अविवेकपूर्ण परिवहन में यदि मुझसे अभाग्यवश कोई त्रुटि हुई हो तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। आप उसे एक ऐसे सच्चे देशभक्त के कोमल स्नेह का कारण समझेंगे और एक ऐसे मानव के तीव्र तथा न्यायसंगत उत्साह का परिणाम मान लेंगे जो आपको प्रसन्न देखने की अपेक्षा अपने लिए किसी अन्य बड़े परम सुख की कल्पना नहीं कर सकता।

परम आदरणीय, वैभवशाली, और राजसत्ताधारी प्रभुओ! मैं हूँ अत्यन्त हार्दिक आदर के साथ,

आपका सबसे विनीत और आज्ञाकारी सेवक, तथा नागरिक बन्धु।

शाम्बारी

जे० जे० रूसो

जून १२, १७५४ ई०

प्रस्तावना

समस्त मानवीय विज्ञानों में सबसे उपयोगी तथा सबसे अपूर्ण मुझको तो मानव जाति का ही प्रतीत होता है और मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि डेलफी के मन्दिर (Temple of Delphi) के एकमात्र अभिलेख में एक ऐसा सिद्धान्त था जो नीतिकारों द्वारा लिखे अब तक के समस्त बृहत् ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों की अपेक्षा जटिल और महत्त्वपूर्ण था। इस वार्त्ता के विषय को दर्शन-शास्त्र द्वारा प्रस्तावित प्रश्नों में से सर्वाधिक रुचिकर मानता हूँ; दुर्भाग्यवश वह हमारे लिए दार्शनिकों द्वारा आज तक सुलझाये गये प्रश्नों में सबसे जटिल है। क्योंकि मनुष्य-मनुष्य में असमानता का श्रीगणेश किस प्रकार हुआ, यह हम मानव जाति के बारे में जाने बिना कैसे जान सकते हैं? और मनुष्य कैसे देख सकता है कि प्रकृति ने उसे किस रूप में बनाया था; जब तक कि वह मूल गठन में हुए समस्त परिवर्तन को, जो स्थान तथा समय के अनुक्रम में हुए हों, न देख पाये? अपनी आदिकालीन दशा में मनुष्य ने परिस्थितियों और प्रगति के कारण जो परिवर्तन तथा परिवर्द्धन कर लिये हैं उनमें से अपनी प्रकृति के मूल रूप को वह किस भाँति पहिचान सकता है? जिस प्रकार ग्लाकस (Glaucus) की प्रतिमा, समय के व्यवधान, समुद्र की लहरों तथा तूफानों से इतनी विकृत हो गयी थी कि वह देवता के स्थान पर एक जंगली जन्तु के समान प्रतीत होती थी उसी भाँति सहस्रों आवर्तक कारणों, अगणित तथ्यों और वृष्टियों के भंडार, शारीरिक गठन में होने वाले परिवर्तनों तथा अनवरत मनोविकारों की कर्कशता द्वारा परिवर्तित समाज में मानवीय आत्मा का स्वरूप इतना बदल गया है कि कठिनाई से भी नहीं पहिचाना जाता। सुनिश्चित एवं अचल सिद्धान्तों पर चलने की जगह, अपने रचयिता द्वारा मुद्रित दैवी तथा प्रभावशाली सारल्य के स्थान पर हम उसमें विवेक समझे जाने वाले मनोविकार और प्रलाप में परिवर्तित ज्ञान की भयावह विषमता पाते हैं।

यह और भी क्रूर है कि जिस प्रकार मानव जाति की प्रत्येक प्रगति उसे आदिकालीन अवस्था से और दूर हटा देती है उसी प्रकार जितना ही अन्वेषण हम करते जाते हैं, उतना ही हम सबसे महत्त्वपूर्ण अन्वेषण करने के साधन से अपने

को वंचित कर देते हैं। इस प्रकार, एक अर्थ में, वास्तविकता यह है कि हमारे मानव के अध्ययन से, मानव के विषय की जानकारी हमारी शक्ति के बाहर हो जाती है।

यह बात सरलता से समझी जा सकती है कि मनुष्य के शरीर-गठन-सम्बन्धी क्रमिक परिवर्तनों में हमें उन विभिन्नताओं के स्रोत की खोज करनी चाहिए जो अब मनुष्यों की पारस्परिक असमानता को दर्शाती हैं उन मानवों की जो प्राकृतिक कारणों द्वारा उन विभिन्नताओं के प्राप्त होने से पूर्व, जो इस समय कुछ व्यक्तियों में दृष्टिगोचर होती हैं, उतने ही समान थे, जितने अन्य प्राणी।

वास्तव में यह नहीं सोचना चाहिए कि इन प्रारंभिक परिवर्तनों ने, फिर वे चाहे जैसे उत्पन्न हुए हों, मनुष्य जाति के प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से एकदम परिवर्तित कर दिया। यह सोचना स्वाभाविक ही है कि उनमें से कुछ की ही दशा में सुधार या ह्रास हुआ और वे ही ऐसे विविध अच्छे या बुरे गुण उपार्जित करने लगे जो उनकी प्रकृति में निहित नहीं थे। परन्तु दूसरे ऐसे भी थे जो अपनी मूल दशा में अधिक समय तक बने रहे। मानव जाति में असमानता का प्रथम स्रोत निःसन्देह इसी प्रकार का था और उसके सुनिश्चित वास्तविक कारण निर्धारित करने की अपेक्षा सामान्य शब्दों में उसे इंगित करना अधिक सरल है।

इसलिए मेरे पाठकगण इस बात की कल्पना न करें कि ऐसी वस्तु को समझ लेने के लिए मैं अपनी मिथ्या प्रशंसा करता हूँ जिसको खोज निकालना इतना कठिन प्रतीत होता है। मैंने यहाँ कुछ तर्क प्रस्तुत किये हैं और कुछ अनुमान करने का साहस किया है। ऐसा उस कठिनाई का हल निकालने की आशा की अपेक्षा उस पर कुछ प्रकाश डालने तथा प्रश्न को उचित रूप में प्रस्तुत करने के विचार से ही अधिक किया है। उस मार्ग पर और लोग भी सरलता से अग्रसर हो सकते हैं किन्तु अंतिम लक्ष्य पर पहुँचना किसी के लिए भी बहुत ज्यादा सरल न होगा क्योंकि मनुष्य की वास्तविक प्रकृति में कितना मौलिक है और कितना कृत्रिम है, इसका उचित प्रकार से भेद करना अथवा उस परिस्थिति का सत्य विचार उपस्थित करना जो अब नहीं है, न शायद कभी थी और न सम्भवतया कभी होगी, किसी भी प्रकार से सरल कार्य नहीं है। फिर भी अपनी वर्तमान परिस्थिति के विषय में उचित निर्णय पर पहुँचने के उद्देश्य से उसके सम्बन्ध में सच्चे विचार प्राप्त करना आवश्यक है। इस विषय पर गंभीर चिन्तन करने के लिए जिन सावधानियों की आवश्यकता होती है, उनका निश्चय करने के लिए जितनी स्थिरचित्तता एवं गूढ़ ज्ञान चाहिए

उससे कहीं ज्यादा स्थिरचित्तता एवं तत्त्वज्ञान की आवश्यकता इसके लिए है। और मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान समस्या का उचित हल निकालने के निमित्त आधुनिक युग के अरस्तुओं और प्लीनियों के लिए प्रयास करना असम्माननीय न होगा।

प्राकृतिक मानव की खोज करने के लिए क्या प्रयोग करने होंगे? और समाज की वर्तमान परिस्थिति में वे प्रयोग किस माँति किये जायेंगे?

इस समस्या को हल करने के प्रयास से मैं इतना दूर हूँ कि मैं सोचता हूँ कि मैंने इस विषय पर पर्याप्त विचार कर लिया है और पहिले से ही घोषणा का साहस कर सकता हूँ कि हमारे महत्तम दार्शनिक भी इस प्रकार के प्रयोगों का निर्देशन करने और हमारे शक्तिशाली से शक्तिशाली सम्राट भी उन्हें कार्यान्वित करने के योग्य नहीं हैं। ऐसे समन्वय की संभावना हमें बहुत कम है, विशेषतः जबकि इसकी सफलता के लिए दोनों पक्षों से अनवरत लगन तथा बुद्धि एवं सद्भावना के अनुक्रम की अनिवार्य आवश्यकता है।

फिर भी ऐसे अन्वेषण ही, जिनका सम्पन्न करना बड़ा कठिन है और जिन पर अब तक बहुत ही कम विचार किया गया है, एक मात्र साधन है जिससे उन असंख्य कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है, जो मानव समाज की वास्तविक बुनियादों के ज्ञान से हमें वंचित रखती हैं। मनुष्य के मूल स्वभाव के विषय की यही अनभिज्ञता है जो प्राकृतिक अधिकार की वास्तविक परिभाषा के ऊपर अंधकार एवं अनिश्चितता का गहन आवरण डालती है क्योंकि बुरलामाक्यू (Burlamaqui) के कथनानुसार अधिकार विशेषतः प्राकृतिक अधिकार, की धारणा मनुष्य की प्रकृति से स्पष्टतः संबंधित हैं। वह आगे बतलाता है कि उसकी ऐसी ही प्रकृति से अर्थात् मनुष्य की परिस्थिति एवं गठन से ही हमें इस विज्ञान के प्राथमिक सिद्धान्तों को खोज निकालना है।

हमें यह देखकर बड़ा आश्चर्य और खीझ होती है कि इस महत् विषय पर लिखने वाले विभिन्न लेखकों में कितना कम मतैक्य है। अधिक महत्त्वपूर्ण लेखकों में कठिनाई से ही कोई दो ऐसे मिलेंगे जिनकी इस विषय में एक-सी विचारधारा हो। प्राचीन दार्शनिकों का तो कहना ही क्या, जिन्होंने प्रधानतः मूल सिद्धान्तों के विषय में परस्पर खंडन करने का भरसक जानबूझकर प्रयत्न किया प्रतीत होता है। रोमनिवासी, विधिशास्त्रियों ने मनुष्य तथा अन्य जीवों को बिना किसी भेदभाव के एक ही प्राकृतिक विधि(कानून) के अधीन मान लिया। उन्होंने 'प्राकृतिक'

के अन्तर्गत उस कानून को मान लिया जो प्रकृति अपने ऊपर लागू करती है, न कि वह जो प्रकृति दूसरों के लिए निश्चित करती है। या फिर ऐसा इसलिए हुआ हो कि विधि (कानून) का उन विधिशास्त्रियों ने विशेष अर्थ ग्रहण किया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति समस्त प्राणियों के बीच उनकी सुरक्षा की दृष्टि से जो सम्बन्ध स्थापित कर देती है, उससे अधिक इस शब्द का अर्थ उन्होंने नहीं समझा था।

वर्तमान दार्शनिक, इस कानून शब्द का अर्थ, केवल नैतिक व्यक्तियों के लिए बनाया हुआ समझकर अर्थात् दूसरों के प्रति बुद्धिमान, स्वतंत्र एवं विचार-पूर्ण व्यवहार का तात्पर्य लेकर, प्राकृतिक कानून का क्षेत्र मनुष्य तक सीमित कर देते हैं क्योंकि वही ऐसा जीव है जिसमें विवेक है। परन्तु इस कानून की अपने ढंग से व्यक्तिगत परिभाषा देते हुए उन्होंने इसको ऐसे मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर निर्धारित कर दिया है कि उनका अन्वेषण करना तो दूर की बात रही, हमारे मध्य ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति हैं जो उन्हें समझ भी सकें। इस प्रकार प्रत्येक दृष्टिकोण से परस्पर विभिन्नता रखनेवाले इन विद्वानों की परिभाषाओं में केवल यही मतैक्य है कि सूक्ष्म धर्माधर्म-विचारक एवं प्रगाढ़ तत्त्वज्ञानी के अतिरिक्त किसी अन्य का प्रकृति के नियम को समझना और फलस्वरूप उसका अनुसरण करना भी असम्भव है। इस सब का केवल यही अर्थ है कि मानवजाति ने समाज की स्थापना के लिए एक ऐसी शक्ति का प्रयोग किया होगा जो बड़ी कठिनाई से उपार्जित होती है और जिसे समाज की अवस्था में भी कुछ ही व्यक्ति उपार्जित कर पाते हैं।

प्रकृति के विषय में इतना अल्प ज्ञान और विधि (कानून) शब्द के विषय में इतना मतभेद रखते हुए, हमारे लिए प्राकृतिक विधि की अच्छी परिभाषा निश्चित करना अत्यन्त कठिन है। अस्तु, जितनी परिभाषाएँ हमें पुस्तकों में मिलती हैं, यदि एकरूपता की त्रुटि को छोड़ भी दें, तो भी उनमें एक और दोष रह जाता है। वह यह कि वे विभिन्न प्रकार के ऐसे ज्ञान से उत्पन्न हुई हैं जो मनुष्य में प्राकृतिक रूप से नहीं होता और जिनकी सुविधाओं का ज्ञान उन्हें तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उस दशा से उन्हें मुक्ति न मिल चुकी हो। आधुनिक लेखक इस छान-बीन से प्रारंभ करते हैं कि मनुष्यों के पारस्परिक हित के लिए किन नियमों पर सहमति प्राप्त करना वांछनीय होगा। और फिर इन नियमों के सार्वदेशिक प्रयोग के फलस्वरूप प्राप्त मंगल के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण का विचार किये बिना

ही इन नियमों के संकलन को 'प्राकृतिक कानून' का नाम दे देते हैं। परिभाषाएँ निर्मित करने की और वस्तुओं के स्वरूप का एक दम मनमानी सुविधाओं द्वारा स्पष्टीकरण करने की, निःसन्देह यह सबसे सरल विधि है।

परन्तु जब तक हम प्राकृतिक पुरुष से अनभिज्ञ हैं, तब तक हमारे लिए यह निश्चित करने का प्रयत्न करना व्यर्थ है कि उसके लिए मौलिक रूप से कौन सा नियम निर्धारित है अथवा उसके गठन के लिए कौन सा नियम सर्वोपयुक्त है? विधि (कानून) के सम्बन्ध में जो भी निश्चयात्मक रूप से हम जान सकते हैं वह यही है कि यदि इसको विधि (कानून) का पद प्राप्त करना है तो न केवल उन व्यक्तियों की इच्छाएँ, जिनको यह अनुग्रहीत करता है, इसके प्रति आत्मसमर्पण की होनी चाहिए वरन् स्वाभाविक होने के लिए उन्हें प्रकृति की वाणी से सीधे आना चाहिए।

इसलिए उन समस्त वैज्ञानिक पुस्तकों को फेंककर जो हमें मनुष्यों को उस रूप में देखने की शिक्षा देती हैं जिसमें उन्होंने अपने को परिवर्तित कर लिया है, मानव आत्मा की सर्वप्रथम एवं सबसे अधिक सरल प्रक्रियाओं का चिन्तन करते हुए मुझे विचारशक्ति के उदय से पूर्व दो सिद्धान्त दिखायी देते हैं—उनमें से एक तो हमको अपने कल्याण तथा रक्षा में पूर्णतया रत करता है और दूसरा किसी अन्य चेतन जीव को, विशेषतः मानव जाति के किसी भी प्राणी को, मृत्यु अथवा पीड़ा में ग्रस्त देखकर हममें स्वाभाविक विरक्ति उत्पन्न करता है।

समाज-प्रियता के सिद्धान्त को बीच में लाये बिना इन दोनों सिद्धान्तों के बीच बोध द्वारा स्थापित सहमति एवं समुच्चय के आधार पर ही मेरे विचार से प्राकृतिक अधिकार के समस्त नियम उत्पन्न होते हैं। ये ऐसे नियम हैं जिनको बाद में हमारा विवेक अन्य आधारों पर स्थापित करने के लिए विवश होता है क्योंकि तब अपने क्रमिक विकास में वह स्वयं प्रकृति का ही दमन करना सीख लेता है।

इस प्रकार विचार करते हुए, हम मनुष्य को उसके मानव बनने से पहले ही दार्शनिक बनाने के लिए बाध्य नहीं होंगे। दूसरों के प्रति उसके कर्तव्य केवल विवेक के उत्तरकालीन उपदेशों द्वारा निर्देशित नहीं हैं। और जिस समय तक वह दूसरों के प्रति दयाभाव की आन्तरिक प्रेरणा को नहीं रोकता, वह किसी दूसरे मनुष्य अथवा किसी अन्य चेतन जीव को हानि नहीं पहुँचायेगा, केवल विधिसंगत अवसरों को छोड़कर जब कि उसकी स्वयं की सुरक्षा संकट में न हो और वह अपने को वरीयता देने के लिए बाध्य न हो। इस प्रणाली से भी हम प्राकृतिक

विधि में पशुओं के योगदान संबंधित चिरकालीन विवाद का अन्त कर सकते हैं क्योंकि यह स्पष्ट है कि विवेक तथा स्वतंत्रता से विहीन रहने के कारण वे कानून को मान्यता नहीं दे सकते। फिर भी चूंकि चेतनासम्पन्न होने के कारण वे कुछ सीमा तक हमारे स्वभाव को ग्रहण करते हैं उनको प्राकृतिक अधिकार का उपभोग करना चाहिए। इस प्रकार मानव जाति का पशुओं के प्रति भी एक प्रकार का आभार है। वास्तव में प्रतीत यह होता है कि यदि मैं अपने साथी प्राणियों को कोई भी हानि न पहुँचाने के लिए बाध्य हूँ तो इसका कारण यह नहीं है कि वे सम्य हैं बरन् यह है कि वे चेतनाशील हैं। और चूंकि यह गुण मनुष्य तथा पशुओं दोनों में समान रूप से विद्यमान है, इसलिए जंतुओं को भी कम से कम यह अधिकार देना है कि मनुष्यों-द्वारा उनके प्रति निरंकुशतापूर्ण दुर्व्यवहार न हो।

इसके अतिरिक्त आदिम पुरुष, उसकी वास्तविक आवश्यकताओं और उसके कर्तव्य के आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन ही उचित प्रणाली है जिसको हम उन सब कठिनाइयों को दूर करने के लिए अपना सकते हैं जो राजनैतिक संस्था के वास्तविक आधारों, उसके सदस्यों के पारस्परिक अधिकारों तथा इसी प्रकार के समानरूप से महत्त्वपूर्ण और अस्पष्ट अन्य अनेक प्रसंगों के विषय में नैतिक असमानता के उद्गम के कारण प्रस्तुत हुई हैं।

यदि हम मानव समाज को शास्त्र एवं निःस्वार्थ भाव से देखें तो हमको सर्व-प्रथम केवल शक्तिशाली की क्रूरता तथा दुर्बल का दमन ही दृष्टिगोचर होगा। किसी की निष्ठुरता पर मस्तिष्क स्तम्भित हो जाता है, दूसरे के अज्ञान पर विलाप करने की प्रेरणा होती है। इस जीवन में बाह्य सम्बन्धों से कम स्थायी और कोई वस्तु नहीं है। वे बहुधा विवेक की अपेक्षा आकस्मिक घटना-द्वारा निर्मित होते रहते हैं और दुर्बलता अथवा शक्ति, सम्पत्ति अथवा निर्धनता के नाम से पुकारे जाते हैं। अतः प्रथम दृष्टि में समस्त मानवीय संस्थाएँ अस्थिर बालू के तट पर ही स्थापित प्रतीत होती हैं। केवल गहन पर्यवेक्षण द्वारा तथा प्रासाद के चारों ओर से धूल तथा रज को हटा देने पर ही हम लोग उसके अचल आधार को, देख सकते हैं तथा उसके आधार के प्रति आदर करना सीख सकते हैं। अस्तु, मानव की प्राकृतिक एवं नैसर्गिक क्षमताओं और उनके क्रमिक विकास के गंभीर अध्ययन के बिना, हम अनिवार्य विभिन्नताओं को आँक नहीं सकेंगे अथवा वस्तुओं के वास्तविक गठन में दैवी इच्छा के परिणाम को मानवीय कला द्वारा नियोजित उपकरण से अलग न कर सकेंगे। इसलिए जिस राजनैतिक तथा नैतिक अनुसंधान की ओर

विचाराधीन यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न हमें ले जाता है, सब प्रकार से लाभप्रद है। सर-कारों का आनुमानिक इतिहास भी मानव जाति के लिए समानरूप से शिक्षाप्रद उपदेश प्रदान करता है।

इस पर विचार करते हुए हमारी क्या दशा होती यदि हम असहाय अपने पर ही छोड़ दिये जाते। हमें उस दैव को घन्यवाद देना सीखना चाहिए जिसके वरद् हस्त ने हमारी संस्थाओं में संशोधन करके तथा उनको स्थायी आधार प्रदान करके, उन अव्यवस्थाओं का निरोध कर दिया है जो अन्यथा उनमें उठ खड़ी होतीं और उन स्रोतों से हमारे लिए सुख उत्पन्न कर दिया है जिनसे हमको दुःख में ग्रस्त होने की सम्भावना थी।

Quem te deus esse

Jussit, et humanā quā parte locatus es in re, Disce.

[Persius Satire iii 71]

[परसियस, सेटायर ३—७१]

मानव-जाति की असमानता के उद्गम तथा आधार पर एक भाषण

मुझे मानव के विषय में भाषण देना है और जिस समस्या पर मैं छानबीन कर रहा हूँ उससे स्पष्ट है कि मुझे मनुष्यों को ही सीधे संबोधन करना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्न वे नहीं पूछ सकते जो सत्य की प्रतिष्ठा करने में भयभीत होते हैं। ऐसी दशा में मैं विश्वास के साथ उस विद्वान् मण्डली के सम्मुख मानवता के हितों का समर्थन कर सकूँगा जो इसके लिए मुझे आमंत्रित करती है और मुझे असंतोष नहीं होगा, यदि मैं अपने विषय एवं निर्णायकों के अनुरूप उचित ढंग से अपना कर्तव्य पालन कर सकूँ।

मेरे विचार से मानव जाति में दो प्रकार की असमानताएँ हैं:—प्रथम जिसे मैं प्राकृतिक अथवा भौतिक कहूँगा क्योंकि वह प्रकृति द्वारा स्थापित है और आयु, स्वास्थ्य, शारीरिक क्षमता, मन तथा आत्मा के गुणों की विभिन्नताओं में निहित रहती है। और द्वितीय जो नैतिक अथवा राजनैतिक असमानता कही जा सकती है क्योंकि यह एक प्रकार की परम्परा पर निर्भर रहती है और मनुष्य की सहमति द्वारा स्थापित या कम से कम अधिकृत है। यह द्वितीय असमानता उन विभिन्न सुविधाओं से निर्मित होती है जिनको कुछ मनुष्य दूसरों की क्षति पर भोगते हैं। उदाहरणार्थ अधिक धनवान्, अधिक सम्मानित, अधिक शक्तिशाली अथवा बलपूर्वक आज्ञा पालन करा सकने की स्थिति में होना।

यह पूछना व्यर्थ है कि प्राकृतिक असमानता का उद्गम क्या है क्योंकि उस प्रश्न का उत्तर तो शब्द की सीधी-सादी परिभाषा से ही व्यक्त हो जाता है। यह पता चलाना और भी व्यर्थ है कि क्या दोनों असमानताओं में कुछ आवश्यक सम्बन्ध भी है? क्योंकि यह पूछना दूसरे शब्दों में यह पूछने के समान है कि क्या आदेश पालन करनेवाले की अपेक्षा आदेशकर्ता अवश्य ही उत्तम होते हैं। और क्या शरीर अथवा मन की शक्ति, बुद्धि अथवा सद्गुण व्यक्ति विशेष में सदैव उसकी शक्ति या धन के अनुपात में पाये जाते हैं? यह ऐसा प्रश्न है जिस पर अपने स्वामियों की उपस्थिति में वाद-विवाद करना दासजनों को सम्भव

तथा उपयुक्त है परन्तु विवेकी तथा सत्य-के खोजी स्वतंत्र पुरुषों के सर्वथा-अयोग्य है।

इसलिए प्रस्तुत भाषण के विषय का अधिक सुनिश्चित रूप यह है : वस्तुओं की उन्नति में उस क्षण का निर्धारण करना जबकि अधिकार ने हिंसा का स्थान लिया तथा प्रकृति नियम के अधीन हो गयी, और इसकी व्याख्या करना कि अलौकिक घटनाओं के किस क्रम से बलवानों ने निर्बलों की सेवा करना स्वीकार किया, तथा जन-साधारण सच्चे आनन्द की कीमत पर काल्पनिक सुख क्रय करने लगे।

जिन दार्शनिकों ने समाज की आधार-विषयक छानबीन की उन सभी ने प्राकृतिक अवस्था की ओर लौट जाने की आवश्यकता को स्वीकार किया, परन्तु उनमें से कोई भी उस स्थिति तक पहुँच नहीं पाया। उनमें से कुछ ने ऐसी अवस्था में मनुष्य पर न्याय और अन्याय की धारणा का आरोप लगाने में संकोच नहीं किया है। उन्होंने यह सिद्ध करने का भी कष्ट नहीं किया कि मनुष्य को ऐसी धारणा से सम्पन्न होना ही चाहिए अथवा वह धारणा उसके लिए कुछ उपयोगी भी हो सकती है। कुछ दूसरों ने मानव के कब्जे में जो कुछ हो उस पर उसका प्राकृतिक अधिकार बताया है परन्तु कब्जे से उनका तात्पर्य क्या है इसकी व्याख्या नहीं की। अन्य कुछ व्यक्तियों ने बलवान का दुर्बल पर अधिकार स्वीकार करते हुए सीधे-शासन के श्रीगणेश की ओर पग बढ़ाया। उन्होंने इस बात पर विचार नहीं किया कि मनुष्यों में शासन तथा अधिकार शब्दों की चलन से पूर्व कितना समय व्यतीत हुआ होगा। संक्षेप में, उनमें से प्रत्येक ने आवश्यकता, लोभ, क्रूरता, इच्छा तथा गर्व पर सर्वदा जोर देते हुए प्राकृतिक अवस्था पर ऐसे विचार थोपे हैं जो समाज के ब्रीच अर्जित किये गये थे। अस्तु, जंगली मनुष्य का वर्णन करते समय उन्होंने सामाजिक मानव की व्याख्या की। हमारे अधिकांश लेखकों के मस्तिष्क में यह सन्देह की भावना जागरित नहीं हुई कि क्या कभी प्राकृतिक अवस्था भी विद्यमान थी। परन्तु इंजील (बाइबिल) से यह स्पष्ट है कि प्रथम मानव ने ज्ञान और आदेश स्वयं ईश्वर से प्राप्त किये, और स्पष्टतः वह प्राकृतिक अवस्था में नहीं थी। और यदि हम हजरत मूसा की कृतियों को इतनी मान्यता दें जितनी कि प्रत्येक ईसाई दार्शनिक को देनी चाहिए तो हमें इसका खंडन करना पड़ेगा कि जल-प्लावन से पूर्व भी मानव ऐसी निर्दोष प्राकृतिक अवस्था में थे; हाँ, यह बात दूसरी है कि वे किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण इस अवस्था को पुनः प्राप्त हो गये हों।

यह एक ऐसा विरोधाभास है कि उसकी पुष्टि करना भी किकर्तव्यविमूढ़ बनाने-वाला होगा और उसे सिद्ध करना तो नितान्त असम्भव होगा।

इसलिये हमें तथ्यों को एक ओर हटा देना चाहिए; उनका इस प्रश्न से कुछ सम्बन्ध भी नहीं है। अब हमको श्रीगणेश करना चाहिए। इस विषय पर सोच-विचार करते समय हम जिन अनुसंधानों में प्रविष्ट होंगे उन्हें ऐतिहासिक तथ्य नहीं समझा जाना चाहिए। वे तो केवल सापेक्ष तथा आनुमानिक आधारभूत सिद्धान्त होंगे जिनका लक्ष्य वस्तुओं के स्वरूप का विश्लेषण करना होगा, न कि उनके वास्तविक उद्गम का निश्चय करना। यह हमारे भौतिकी के विशेषज्ञों द्वारा अनुमानित तथ्यों के समान होगा जो जिनकी सृष्टि-निर्माण के विषय में प्रतिदिन वे कल्पना किया करते हैं। धर्म हमें यह विश्वास करने के लिए आदेश देता है कि सृजन के तत्काल उपरान्त ही दैव स्वयं मानव को प्राकृतिक अवस्था से उठा लेता है। अतएव वे असमान इस कारण से हैं कि यह दैव की इच्छा है कि वे ऐसे हों। परन्तु यह हमको मानव की विशुद्ध प्रकृति तथा उसको चारों ओर से घेरे रहनेवाले प्राणियों पर आधारित इन अनुमानों की कल्पना करने से नहीं रोकता कि मानव जाति का भविष्य क्या हुआ होता यदि वह असहाय अवस्था में छोड़ दी जाती? यही वह प्रश्न है जो मैंने उठाया है और इसी पर मुझे प्रस्तुत भाषण में विवेचन करना है। चूँकि मेरा यह विषय समस्त मानव जाति के लिए रुचिकर है, इसलिए मैं समय व स्थान को मुलाकर ऐसी शैली अपनाने का प्रयत्न करूँगा जो समस्त राष्ट्रों के अनुकूल हो; केवल ऐसे मनुष्यों का ध्यान नहीं रखूँगा जिनके सम्मुख मैं भाषण दे रहा हूँ। मैं यह कल्पना करूँगा कि मैं एथेन्स के लिसियम (Lyceum of Athens) में अपने गुरुओं के उपदेशों को, प्लेटो (Plato) तथा जेनोक्रैटीज (Xenocrates) जैसे निर्णायकों के सम्मुख दोहरा रहा हूँ, और समस्त मानव जाति उसे बैठी सुन रही है।

हे मानव ! तुम चाहे जिस देश के हो और तुम्हारे चाहे जो कुछ विचार हों, अपने इतिहास को देखो, ऐसे इतिहास को जिसे मैंने पढ़ने योग्य समझा है; अपने साथी प्राणियों द्वारा पुस्तकों में लिखित इतिहास को नहीं, क्योंकि वे तो झूठे हैं वरन् उस प्रकृति में लिखे इतिहास को जो कभी असत्य नहीं बोलती। जो कुछ भी प्रकृति द्वारा प्राप्त होगा वह सत्य होगा, उसमें तुम कोई असत्य न पाओगे जब तक कि मैं स्वयं उसमें अपनी ओर से अनजाने कुछ न ठूस दूँ। जिस युग का मैं वर्णन करने जा रहा हूँ वह अत्यन्त पुरातन है। तुम जो कुछ कभी थे उससे तुममें कितना

परिवर्तन हो गया है। सारांश यह कि, मैं तुम्हारी जाति के जीवन-वृत्त को, उसके उन गुणों को, लिख रहा हूँ, जो तुमने प्राप्त किये और जिनको तुम्हारी शिक्षा तथा आचरण ने भ्रष्ट भले ही कर दिया हो परन्तु पूर्णतः नष्ट न कर सके होंगे। मैं यह अनुभव करता हूँ कि एक ऐसा समय आता है जब व्यक्ति रूप से मानव रुक जाना, ठहर जाना चाहता है। तुम यह जानने की इच्छा करोगे कि वह कौन सा ऐसा युग होगा जिसमें तुम अपनी समस्त जाति को निश्चल खड़ी देखना चाहोगे ? जिन कारणों से तुम अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तुष्ट हो उन कारणों से तुम्हारे अभागे वंशजों को इससे भी अधिक असन्तोष होगा। इसलिए, संभव है तुम यह इच्छा करो कि उस पूर्व स्थिति को लौट जाना तुम्हारी शक्ति में होता। इस प्रकार का अनुभव तुम्हारे आदि पूर्वजों के गुण-कीर्तन, समकालीन टीका तथा अभागी पीढ़ी के लिए भयावह होगा।

वार्ता का प्रथम भाग

मानव की प्राकृतिक अवस्था पर सही निर्णय देने के लिए उसके जन्म से उसे देखना समझना और मानव जाति की भ्रूणावस्था में उसकी परीक्षा करना महत्त्वपूर्ण है। मैं उसके क्रमागत विकास में उसके संगठन की खोज नहीं करूँगा और न इस बात का परीक्षण करने की प्रतीक्षा करूँगा कि आरंभ में उसकी वह पाशविक व्यवस्था कैसी रही होगी जिसके आधार पर वह अन्त में वर्तमान अवस्था तक पहुँच सका। मैं इसकी समीक्षा न करूँगा कि अरस्तू की मान्यता के अनुसार, प्रारम्भ में उसके लम्बे नाखून केवल मुड़े हुए विकृत तेज पंजों के समान थे या नहीं? अथवा क्या उसका शरीर भालू की भाँति बालों से ढका हुआ था? अथवा उसका चौपायों की भाँति पृथिवी की ओर दृष्टि लगाकर चलने तथा इसके फलस्वरूप क्षितिज को कुछ पगों तक सीमित रखने का तथ्य, क्या उसकी प्रकृति और सीमित विचारों की ओर स्पष्ट इंगित नहीं करते हैं? इस विषय पर मैं केवल अस्पष्ट एवं नितान्त काल्पनिक अनुमानों की रूप-रेखा बना सकता था। तुलनात्मक शारीर (Comparative Anatomy) ने अभी तक बहुत कम प्रगति की है और प्रकृतिवादियों के पर्यवेक्षण इतने अनिश्चित हैं कि वे किसी भी सुदृढ़ तर्क के पर्याप्त आधार नहीं बन सकते। अस्तु, इस विषय पर प्राप्त किसी भी अलौकिक सूचना का आश्रय लिये बिना अथवा मानव की रचना में हुए उन आन्तरिक एवं बाह्य परिवर्तनों की ओर ध्यान दिये बिना, जिनसे वह अपने शरीर के अवयवों को नवीन प्रयोग लाया तथा विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों पर निर्वाह करना सिखाया, मैं कल्पना करता हूँ कि उसकी रचना सदैव ऐसी ही रही जैसी की आज दीखती है।¹ वह सदैव ही दो टाँगों पर चला होगा। वह अपने हाथों का प्रयोग उसी भाँति करता होगा जिस भाँति हम आज करते हैं; उसने समस्त प्रकृति पर दृष्टिपात किया होगा तथा अंतरिक्ष के असीमित विस्तार को अपने नेत्रों द्वारा आँका होगा।

१. तुलना कीजिए—डार्विन का सिद्धांत जिसके अनुसार मानव का पूर्वज बंदर था और वह चौपायों की भाँति चलता होगा व उसके दुम भी रही होगी।

इस प्रकार गठित व्यक्ति को उसकी उन सब अतिप्राकृतिक देनों से जो उसे मिलीं, तथा उन समस्त कृत्रिम क्षमताओं से, जो एक लम्बी प्रक्रिया के उपरान्त ही प्राप्त हो सकी होंगी, यदि हम उसे वंचित कर दें अर्थात् एक शब्द में यदि हम उसको ठीक उसी रूप में विचारें जिसमें वह प्रकृति के हाथों बना, तो हम उसे एक ऐसे प्राणी के रूप में देखेंगे जो कुछ से दुर्बल और अन्य से कम चपल होगा। परन्तु सब दृष्टि से देखने पर हम उसे सबसे ज्यादा उपयोगी रूप में गठित पायेंगे। मैं उसे प्रथम बलूत के वृक्ष पर क्षुधा मिटाते हुए तथा प्रथम जलस्रोत पर अपनी प्यास बुझाते हुए तथा जिस वृक्ष ने उसे भोजन प्रदान किया उसी के नीचे सोते हुए और उसीके साथ उसकी समस्त अवश्यकताओं की पूर्ति होते हुए देख रहा हूँ।

जिस समय पृथिवी अपनी प्राकृतिक उर्वर स्थिति में छूटी हुई थी और उन घने जंगलों से आच्छादित थी जिसके वृक्षों को कभी कुल्हाड़ी ने विकृत नहीं किया था, उस समय वह चारों ओर प्रत्येक जाति के प्राणी के लिए भोजन तथा आश्रय प्रदान करती थी। उस स्थिति में अन्य प्राणियों के मध्य चारों ओर छितरे हुए मानव उनको देखते व उनके उद्गम का अनुकरण करते तथा इस प्रकार जन्तुओं की मूल प्रवृत्ति को प्राप्त करते थे। किन्तु जहाँ पशुओं की प्रत्येक जाति एक ही मूल प्रवृत्ति तक सीमित थी वहाँ मनुष्य को यह लाभ था कि सम्भवतः किसी विशेष मूल प्रकृति तक सीमित न होने के कारण वह उन सबको अपना सकता था और वह विभिन्न प्रकार की खाद्य सामग्रियों का उपभोग करता, जिनको अन्य पशु परस्पर बाँट कर खाते थे। इस प्रकार वह अन्य जीवों की अपेक्षा अपनी जीविका अधिक सरलता से उपलब्ध कर लेता था।

बचपन से जलवायु की कठोरता और ऋतुओं की तीव्रता से अम्यस्त, अत्यधिक परिश्रम के आदी और नग्न तथा निःशस्त्र अवस्था में अपनी तथा अपने शिकार की अन्य खूंखार जन्तुओं से रक्षा करने के लिए अथवा उनसे बचाव के लिए पलायन को विवश, मनुष्य ने एक शक्तिशाली तथा प्रायः अपरिवर्तनीय शरीर प्राप्त किया। अपने माता-पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त सुगठित शरीर के साथ जन्म लेकर तथा उन व्यायामों द्वारा उसको पुष्ट करके, जिनसे वह प्रारंभ में बना था, बालक उतनी शक्ति प्राप्त कर लेते थे जितनी मानवीय ढाँचे की क्षमता थी। इस विषय में प्रकृति उनके साथ ऐसा ही व्यवहार करती जैसा कि स्पार्टा नगरी अपने नागरिकों के बच्चों के साथ करती थी। जो इस संसार में सुन्दर गठन के साथ उत्पन्न होते उन्हें वह स्पार्टा नगरी और बलवान एवं शक्तिशाली बना देती तथा दूसरों को नष्ट कर

देती। यह परिस्थिति हमारे आधुनिक समुदायों से भिन्न थी क्योंकि इनमें तो राज्य बालकों को माँ बाप पर मार बनाकर उन्हें बिना किसी भेद-भाव के जन्म से पहले ही मार डालता है।

जंगली या असम्य मानव अपने शरीर को ही एकमात्र उपकरण समझकर, उस शरीर को अनेक ऐसे उद्देश्यों के लिए प्रयोग में लाता है जिनके लिए हमारे शरीर, अभ्यास की कमी के कारण, अयोग्य हैं क्योंकि हमारा उद्यम हमें ऐसी शक्ति एवं चपलता से वंचित कर देता है जिसको प्राप्त करने के लिए उसे आवश्यकताएँ बाध्य करती हैं। यदि उसके पास कुल्हाड़ी होती तो क्या वह अपने हाथ से वृक्ष से इतनी बड़ी शाख काट पाता? यदि उसके पास गोफन होता तो क्या वह इतनी तेजगति से हाथ से ढेला फेंक सकता? यदि उसके पास सीढ़ी होती तो क्या वह वृक्ष पर इतनी फुर्ती से चढ़ सकता? यदि उसके पास घोड़ा होता तो क्या वह इतनी तेजी से पैदल चल पाता? सम्य मनुष्य को अपने चारों ओर समस्त यन्त्र एकत्र करने का अवसर मिल जाय तो निःसन्देह वह असम्य को सरलता से पराजित कर देगा। परन्तु यदि तुम इससे भी अधिक असमान प्रतियोगिता देखना चाहते हो तो दोनों को नग्न एवं निःशस्त्र लड़ा दो फिर तुम अपनी समस्त शक्तियों को सदैव अपने हाथ में रखने के, प्रत्येक घटना के लिए सदैव सतर्क रहने के, और अपने आप को मानो अनवरत रूप से समस्त एवं पूर्णरूपेण सन्नद्ध बनाये रखने के लाभ को प्रत्यक्ष देख लोगे।

हाब्स (Hobbes) का दावा है कि मनुष्य स्वभावतः निर्भीक होता है और आक्रमण करने एवं लड़ने के लिए उद्यत रहता है। एक अन्य प्रसिद्ध दार्शनिक की विपरीत धारणा है। कम्बरलैण्ड (Cumberland) तथा पफेंडोर्फ (Puffendorf) की भी निश्चित धारणा है कि प्राकृतिक अवस्था के मानव से अधिक कायर और डरपोक कोई नहीं है; तथा वह सदैव कंपायमान रहता है और तनिक से शोरगुल अथवा आहट से डरकर भागने को तैयार रहता है। यह उन वस्तुओं के विषय में सत्य हो सकता है जिन्हें वह जानता नहीं है; और प्रत्येक सामने आनेवाली नवीनता से उसके भयातुर होने में मैं संशय नहीं रखता—विशेषतः जबकि वह न यह जानता हो कि उस नवीनता से क्या शारीरिक लाभ या हानि की उसे आशा रखनी चाहिए? और न वह अपनी शक्ति एवं आनेवाले अनिष्टों की तुलना ही कर सकता हो। ऐसी घटनाएँ प्राकृतिक अवस्था में बहुत ही कम घटित होती हैं, क्योंकि उस स्थिति में तो सभी वस्तुएँ बड़े संतुलित ढंग से

चलती हैं, और घरातल पर वे रहसा एवं अनवरत नष्ट नष्ट नहीं घटते जो मनुष्यों के साथ-साथ रहने के कारण, उनके आवेशों तथा ईर्ष्याओं द्वारा उत्पन्न होते हैं। हाँ, बर्बर मानव को अवश्य अन्य जन्तुओं के मध्य अकेला रहना पड़ता है, इसलिए कभी-कभी अपनी और उनकी शक्ति-परीक्षा की परिस्थिति आ जाती है और वह उनसे अपनी तुलना करने लगता है। जब उसे यह ज्ञात होता है कि वह उनसे शक्ति में पार न पाकर निपुणता में बढ़-चढ़कर है तो वह उनसे निर्भीक होना सीख लेता है। किसी भालू किंवा भेड़िए को किसी बलवान, चपल तथा दृढ़निश्चयी जैसे कि वे सब होते हैं, और पत्थरों व अच्छे सोटे से लैस, बर्बर व्यक्ति के विरुद्ध खड़ा कर दें तो हम देखते हैं कि मुठभेड़ों का मय कम से कम दोनों ओर होगा। और इस प्रकार से कुछ संघर्षों के पश्चात् जंगली जन्तु, जो एक दूसरे पर आक्रमण करने के इच्छुक नहीं होते, मनुष्य पर आक्रमण करने के लिए भी बिल्कुल तैयार नहीं होंगे, क्योंकि वे उसको भी अपने समान जंगली तथा भयावह पायेंगे। जहाँ तक ऐसे जानवरों का सवाल है जिनमें सचमुच मनुष्यों की निपुणता की अपेक्षा कहीं अधिक शक्ति होती है उनके समक्ष वह ठीक उसी परिस्थिति में होता है जिसमें और अपेक्षाकृत दुर्बल जन्तु होते हैं जो अपनी दुर्बलता के बावजूद अपना जीवन निर्वाह करते हैं। अंतर वास्तव में इतना है कि समान रूप से चपल धावक होने के कारण और प्रत्येक वृक्ष पर निश्चित आश्रय पा सकने के कारण, मनुष्य इस विषय में पूर्ण स्वतंत्र है कि वह प्रत्येक संघर्ष में इच्छानुसार चाहे लड़े या भाग जाय। फिर कोई भी जानवर प्रकृत्या नहीं वरन् केवल आत्मरक्षा में या अत्यधिक क्षुधा के कारण मनुष्य पर आक्रमण करता है, अथवा ऐसी भयानक विरोधी भावनाएँ दिखाता है जिससे प्रतीत होता है कि प्रकृति ने एक प्रजाति को दूसरी का आहार बनाया है।

यह असंदिग्ध है कि हब्सी तथा बर्बर उन जंगली जानवरों से, जिनसे जंगलों में उनका सामना होता, बहुत कम डरते हैं। वेनीज्युला (Venezuela) के केराइब (Caraihs) सुरक्षा के विश्वास के साथ रहते हैं और उन्हें तनिक भी असुविधा नहीं होती। यद्यपि वे पूर्णतः नग्न होते हैं तथापि, जैसा फ्रान्सिस कोरियल (Francis Correal) बतलाता है, वे केवल धनुष-बाण से लैस होकर जंगलों में फिरते हैं परन्तु किसी ने कभी नहीं सुना कि उनमें से किसी का भी जंगली जानवरों ने भक्षण कर लिया हो।

परन्तु मनुष्य के कुछ अन्य शत्रु इन जानवरों से कहीं अधिक भयंकर हैं जिनके विरुद्ध रक्षा के साधन उसको प्राप्त नहीं हैं। ये शत्रु लड़कपन तथा बुढ़ापे की

प्राकृतिक असमर्थताएँ, हर प्रकार की अस्वस्थता हैं जो हमारी दुर्बलता के विषादजनक प्रमाण हैं। इनमें से प्रथम दो समस्त जीवों में समान रूप से पायी जाती हैं और अन्तिम मुख्यतः सामाजिक अवस्था में मनुष्य से संबंधित हैं। बाल्यावस्था के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि अपने बच्चे को सदैव साथ रखकर मानव की माँ उसका पालन-पोषण अधिक सरलता से कर सकती है अपेक्षाकृत अन्य जन्तुओं की उन बहुत-सी मादाओं से जो बड़े परिश्रमपूर्वक अपने आहार की खोज में तथा अपने बच्चे को दूध पिलाने के लिए निरन्तर इधर-उधर आने-जाने के लिए बाध्य हैं। यह सत्य है कि यदि माता नष्ट हो जाय तो उसके साथ ही बालक के नष्ट हो जाने की बड़ी आशंका बनी रहती है। यह भय अन्य अनेक प्रकार के जीवों की प्रजातियों के विषय में सामान्य है जिनके बच्चों को स्वावलम्बी बनने में अधिक समय लगता है। यदि हमारा बचपन उनसे अधिक लम्बा होता है तो हमारा जीवन भी उनसे अधिक लम्बा होता है। इसलिए इस दिशा में सभी वस्तुएँ पर्याप्त समानता लिये हुए हैं यद्यपि जीवन की प्रथमावस्था की अवधि तथा वृद्धों की संख्या के विषय में अन्य नियम भी विचारणीय हैं किन्तु उनका वर्तमान विषय से कोई सम्बन्ध नहीं है। वृद्धावस्था में जब मनुष्य कम सक्रिय होते हैं और कम परिश्रम करते हैं तो खाद्य-सामग्री की आवश्यकता भी उनकी उपार्जन शक्ति के साथ-साथ घटती जाती है। बर्बर अवस्था उनकी वातरोग तथा गठिया से रक्षा करती है तथा वृद्धावस्था की जिस सर्वोपरि व्याधि का निवारण मानवीय सहायता नहीं कर पाती है उससे भी वे बच जाते हैं क्योंकि वे (असम्य), अन्य के अथवा स्वयं भी यह जाने बिना कि वे समाप्त हो गये, मृत हो जाते हैं।

बीमारी के विषय में मैं उन व्यर्थ तथा असत्य कथनों की पुनरावृत्ति नहीं करूँगा जिनकी घोषणा सर्वाधिक स्वस्थ पुरुष दवाइयों के विरुद्ध करते रहते हैं परन्तु इतना अवश्य पूर्णता कि क्या कोई ठोस पर्यवेक्षण ऐसा हुआ है जिनसे उचित रीति पर यह परिणाम निकाला जा सके कि जिन देशों में चिकित्साशास्त्र की अवहेलना होती है वहाँ पर मनुष्य जीवन की अवधि उन देशों की अपेक्षा कम है जहाँ उस शास्त्र की अच्छी चर्चा होती है। यदि हम अपने ऊपर, उनसे अधिक व्याधियाँ लाद लें, जितनी औषधियों द्वारा ठीक हो सकती है तो यह स्थिति कैसे हो सकती है? रहन-सहन के ढंग की विषम असमानता, कुछ का अतिशय आलस्य और अन्य का अत्यधिक परिश्रम, हमारी ऐन्द्रिय क्षुधा की उत्तेजना एवं पूर्ति की सरलता, धनिकों की अत्यधिक विशिष्ट खाद्य सामग्री जो उन्हें अधिक उत्तेजित करती है तथा उनमें

मन्दाग्नि उत्पन्न करती है; दूसरी ओर निर्धनों का अस्वास्थ्यकर भोजन जो प्रायः बुरा तथा उनकी आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त है जिसके कारण, सुअवसर प्राप्त होने पर वे अत्यधिक खाने और आमाशय पर अधिक भार लादने को प्रेरित हो जाते हैं, ये सब और इनके अतिरिक्त देर तक बैठना, और प्रत्येक प्रकार का असंयम, प्रत्येक भावावेश का अपरिमित परिवहन, परिश्रम, मानसिक थकावट, असंख्य पीड़ाएँ तथा चिंताएँ जो जीवन के प्रत्येक पहलू से जुड़ी हुई हैं; जिनसे मनुष्य का मस्तिष्क निरन्तर सताया जाता है; ये सब इस विषय के कहीं अधिक विनष्टकारी प्रमाण हैं कि हमारी व्याधियों का अधिकांश भाग हमारे अपने ही द्वारा सर्जित है और हम प्रायः उन सबसे बचाव कर लेते यदि हम उस सरल, समान और एकान्त जीवन-प्रणाली को अपना पाते जो प्रकृति ने निर्धारित की है। यदि प्रकृति ने यही निर्दिष्ट किया था कि मनुष्य स्वस्थ हो तो मैं साहसपूर्वक घोषणा कर सकता हूँ कि मनन तथा चिन्तन की स्थिति प्राकृतिक अवस्था के प्रतिकूल है और यह कि चिन्तनशील व्यक्ति एक भ्रष्ट जन्तु है। जब हम बर्बरों के अच्छे शरीर-गठन के विषय में सोचते हैं, विशेषतः उनके विषय में जिन्हें हम अपनी मादक मदिराओं से नष्ट-भ्रष्ट नहीं कर पाये हैं और इस पर मनन करते हैं कि वे घावों तथा वृद्धावस्था के अतिरिक्त अन्य किसी व्याधि से नहीं सताये जाते, तो हम विवश होते हैं कि शिष्ट समाज के इतिहास का वर्णन करते हुए मानव की अस्वस्थता के इतिहास के विषय में भी बतलाते जायँ। प्लेटो की सम्मति तो कम से कम इस प्रकार की थी ही, जिसने ट्राय (Troy) के घेरे के अवसर पर पोडेलिरियस (Podalirius) तथा मौकान (Mochaon) द्वारा निर्धारित किंवा अनुमोदित कुछ औषधियों से निष्कर्ष निकाला था कि उन अनेक बीमारियों को, जो उसके समय में इन औषधियों के प्रयोग से उत्पन्न हुई, मनुष्य जाति न जानती थी; और कैलसस (Celsus) हमें बतलाता है कि उस भोजन का जो आज इतना आवश्यक हो गया है, प्रथम बार हिप्पोक्रेटीज (Hippocrates) ने आविष्कार किया।

अस्तु, रोगों के बहुत कम कारणों के अधीन होने के कारण मानव को प्राकृतिक अवस्था में दवाइयों तथा उपचारों की कोई आवश्यकता नहीं थी और चिकित्सकों की तो और भी कम। और न ही मानव जाति इस दिशा में अन्य जानवरों की अपेक्षा अधिक असुविधा में थी। शिकारियों से सरलतापूर्वक यह ज्ञात किया जा सकता है कि आखेट का पीछा करते हुए क्या उनको कभी दुर्बल जन्तु भी मिला है? यह सत्य है कि उनको प्रायः ऐसे आखेट मिल जाते हैं जिनके शरीर पर पर्याप्त

मात्रा में घाव रहे हों, जिनकी हड्डियाँ अथवा शारीरिक अंग टूटे-फूटे हों और तब भी जो बिना किसी शल्य-चिकित्सा-प्रणाली की सहायता के केवल समय से अथवा बिना किसी पथ्यापथ्य के, केवल सामान्य जीवन के द्वारा ठीक हो चुके हों। छेदन चिकित्सा की यंत्रणा सहे बिना, जड़ी-बूटियों के विष से प्रभावित हुए बिना, अथवा उपवास द्वारा दुर्बल हुए बिना भी उनकी चिकित्सा किसी भी प्रकार तनिक भी अपूर्ण नहीं प्रतीत होती। संक्षेप में, चाहे कितनी ही विधिपूर्वक खिलायी जानेवाली लाभप्रद औषधियाँ हमको प्राप्त क्यों न हों, यह निश्चित है कि यदि बर्बर को बीमारी की अवस्था में अपने ऊपर छोड़ दिया जाय तो उसे प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कोई आशा नहीं होती तथा दूसरी ओर उसे अपने रोग के अतिरिक्त अन्य कोई भय नहीं होता; इसी कारण उसकी स्थिति प्रायः हमारी स्थिति से अधिक श्रेयस्कर होती है।

इसलिए हमें सतर्क रहना चाहिए कि हम बर्बर मनुष्य को उन मनुष्यों से मिश्रित न कर दें जिन्हें हम प्रतिदिन, अपनी आँखों के सामने देखते हैं। अपने आश्रय में छोड़े हुए जीवों से प्रकृति ऐसा पक्षपातपूर्ण व्यवहार करती है जिससे प्रतीत होता है कि वह अपने इस अधिकार के विषय में कितनी ईर्ष्यालु है। अश्व, बिल्ली, वृषभ, और खर भी यदि जंगलों में स्वच्छन्द घूमते हैं तो अस्तबलों में पालित-पोषित होने की अपेक्षा सामान्यतः बड़े डीलडौल के, और सदैव अधिक शक्तिशाली होते हैं तथा कहीं अधिक साहस, शक्ति एवं ओज प्रकट करते हैं। पालतू हो जाने से वे इनमें से आधे लाभ गँवा बैठते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें मली प्रकार खिलाने-पिलाने व अच्छा व्यवहार करने का हमारा सारा प्रयत्न उन्हें केवल भ्रष्ट ही करता है। ऐसा ही मनुष्य के साथ भी है। जैसे-जैसे वह सामाजिक व्यक्ति एवं दास होता जाता है वह दुर्बल, डरपोक तथा पामर बनता जाता है और उसका स्त्रैण जीवन-क्रम उसकी शक्ति एवं साहस को पूर्णतः निगल जाता है। इसके अतिरिक्त यह कहा जा सकता है कि जंगली और पालतू जन्तुओं के बीच जितनी भिन्नता है उससे भी अधिक भिन्नता बर्बर मनुष्य और सभ्य मनुष्य में है। मनुष्य तथा जन्तुओं के साथ प्रकृति का समान व्यवहार होने के कारण, वे विभिन्न सुविधाएँ, जिनको अपने पशुओं के देने की अपेक्षा मनुष्य स्वयं अपने लिए कहीं अधिक प्रयोग में लाते हैं, उनकी अधिक गिरावट के उतने अधिक कारण बन जाती हैं।

इन कारणों से आदिवासियों के लिए यह न तो कोई बड़े दुर्भाग्य की बात है, न उनके परिरक्षण में बाधक है कि वे नग्न रहते हैं, उनका कोई निवास स्थान नहीं है और उनके पास उन समस्त बाह्य आडम्बरों की कमी है जिन्हें हम अत्यन्त आव-

इसके समझते हैं। यदि उनके चर्म बालों से ढके नहीं हैं तो उन्हें उष्ण जलवायु में ऐसे आवरण की कोई आवश्यकता भी नहीं और शीत जलवायु वाले देशों में वे उन जन्तुओं की खाल का प्रयोग करना अति शीघ्र सीख लेते हैं जिन्हें वे पराजित कर चुकते हैं। यदि उनको केवल भागने के लिए दो टाँगें उपलब्ध हैं तो अपनी सुरक्षा के लिए दो हाथ भी हैं और उन्हीं से वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकते हैं। उनके बालकों को शनैः शनैः तथा कठिनाई से पैरों चलना सिखाया जाता है परन्तु उनकी माताएँ उन्हें गोदी में बड़ी सरलता से ले जा सकती हैं; यह सुविधा अन्य जानवरों को उपलब्ध नहीं है क्योंकि यदि बच्चेवाली माता का पीछा किया जाता है, तो वह अपने नन्हें बच्चे को या तो छोड़ने पर बाध्य हो जाती है या उनकी चाल से अपनी चाल मिलाती है। संक्षेप में, जब तक हम परिस्थितियों के ऐसे आश्चर्यजनक और आकस्मिक सहयोग की कल्पना न करें, जिनका मैं बाद में वर्णन करूँगा और जिनके घटित होने की कोई संभावना नहीं है, तो स्थिति की प्रत्येक दशा में यह स्पष्ट है कि जिस मनुष्य ने अपने लिए वस्त्र या गृह निर्मित किये थे, वह अपने लिए ऐसे उपक्रम जुटा रहा था जिनकी उसे विलकुल भी आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उस काल तक उसने बिना उन साधनों के जीवन व्यतीत किया था और ऐसा कोई कारण नहीं था कि वह प्रौढ़ावस्था में ऐसा जीवन व्यतीत करने की सामर्थ्य न रख सकता जैसा कि उसने बाल्यावस्था में व्यतीत किया था।

एकान्तवासी, आलसी और निरन्तर संकट से घिरा हुआ, बर्बर व्यक्ति निश्चय ही निद्रा का प्रेमी रहा होगा। उसकी निद्रा भी अन्य जानवरों की भांति हल्की रही होगी, जो बहुत कम विचार करते हैं और हर समय जब कि कुछ सोच न रहे हों सुप्तावस्था में पड़े रहते हैं। आत्मरक्षण ही उसका मुख्य एकमात्र ध्येय होने के कारण, उसके लिए उन क्षमताओं का अत्यधिक प्रयोग करना अनिवार्य है जो आक्रमण किंवा सुरक्षा से अत्यधिक संबंधित हैं और शिकार पर अधिकार करने के लिए अथवा स्वयं को दूसरे जानवरों का आखेट बनने से बचाव के लिए जरूरी हैं। दूसरी ओर जो इन्द्रियाँ कोमलता तथा भोगविलास द्वारा परिपक्व होती हैं वे मही एवं अपूर्ण आकृति वाली रहेंगी तथा उनमें किसी भी प्रकार की कमनीयता की संगति न होगी। बर्बर की ज्ञानेन्द्रियाँ विभाजित होने के कारण उसका स्पर्श तथा स्वाद अत्यन्त घटिया रहेगा परन्तु उसकी दृष्टि, श्रवण शक्ति तथा घ्राण शक्ति अत्यन्त सुन्दर एवं विलक्षण रहेगी। साधारणतया जन्तु जगत में इसी प्रकार की स्थिति है और यात्रियों के वृत्तान्तों के अनुसार सर्वाधिक बर्बरजातियों की भी यही दशा

है इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि उत्तमाशा अन्तरीप (केप ऑफ गुड होप) के हौटेन्टोट (Hottentots) नग्न क्षेत्रों से समुद्र में चलते हुए जहाजों को इतनी दूरी पर पहचान सकते हैं जितनी दूरी से हालैण्ड निवासी दूरबीन की सहायता से देख सकते हैं; अथवा यह कि अमरीका के आदिवासी अपनी घ्राण-शक्ति से स्पेन निवासियों को उसी प्रकार खोज लेते थे जिस प्रकार कि सर्वोत्तम कुत्ते खोज करने में सफल होते; अथवा यह कि ये बर्बर जातियाँ नगनावस्था में विचरण करने में कोई कष्ट अनुभव नहीं करतीं; अथवा यह कि अपने भोजन में चटनी का बड़ी मात्रा में प्रयोग कर लेती हैं और तीव्रतम युरोपीय मदिरा पानी की भाँति पी जाती है।

अब तक मैंने मनुष्य के केवल भौतिक पक्ष पर विचार किया है, अब मुझे नैतिक तथा आध्यात्मिक पक्ष पर विचार करने दीजिए।

मैं किसी भी प्राणी में चतुराई से निर्मित एक ऐसे यन्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं देख पाता, जिसे प्रकृति ने उसे स्वयं को नियंत्रित करने के लिए तथा जो वस्तुएँ उसे अस्तव्यस्त किंवा विनष्ट करना चाहें उनसे रक्षा करने के लिए प्रदान किया है। मैं ठीक उन्हीं वस्तुओं को मानव यन्त्र में देखता हूँ। अन्तर केवल इतना है कि पशुओं के क्रिया-कलापों में प्रकृति ही एकमात्र अभिकर्त्री (एजेण्ट) है परन्तु मनुष्य का अपनी निजी क्रियाओं एवं अपने चरित्र में एक स्वतंत्र कार्यकर्ता की भाँति कुछ भाग है। पशु की पसंदगी तथा अस्वीकृति मूल प्रवृत्ति के अधीन है जब मनुष्य स्वेच्छा से क्रियाशील होता है। परन्तु पशु अपने लिए निर्धारित नियम की अवहेलना नहीं कर सकता चाहे ऐसा करना उसके लिए लामप्रद ही हो जबकि इसके विपरीत मनुष्य स्वार्थ के लिए प्रायः ऐसे नियमों की अवहेलना कर देता है। इस प्रकार एक कबूतर सर्वोत्तम मांस से भरी तश्तरी के पास और एक बिल्ली फलों अथवा अनाज के ढेर के ऊपर रहते हुए भी भूखों मर सकती है यद्यपि निश्चित यह भी है कि दोनों प्राणियों को उन खाद्य सामग्रियों में पुष्टिकारक पदार्थ मिल सकते हैं जिन्हें वह घृणा से अस्वीकार करता है, इसलिए यह एक तथ्य है कि लंपट मनुष्य ऐसी अति करते हैं जो उन्हें ज्वरग्रस्त एवं मरणासन्न कर देती है; क्योंकि मन इन्द्रियों को भ्रष्ट करता है और इच्छा बोलती ही जाती है जब कि प्रकृति शान्त हो जाती है।

प्रत्येक प्राणी में विचार होता है क्योंकि उसके इन्द्रियाँ होती हैं। वह कुछ अंशों में उन विचारों का सम्मिश्रण भी करता है। और इस दिशा में मनुष्य तथा पशु में केवल अंशों का अंतर है। कुछ दार्शनिकों ने तो यहाँ तक कहा है कि कुछ

मनुष्यों और कुछ पशुओं में जितना अन्तर होता है उसकी अपेक्षा एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में कहीं अधिक अन्तर होता है। इसलिए मनुष्य और पशु में समझ के आधार पर इतना अंतर नहीं होता जितना कि स्वतन्त्र क्रियाशीलता के मानवीय गुण के आधार पर। प्रकृति प्रत्येक जीव को साधिकार आदेश देती है और पशु उसकी वाणी का पालन करते हैं। मनुष्य भी उसी से प्रेरित होता है, परन्तु साथ ही वह यह भी जानता है कि वह उसे मौन सहमति देने अथवा उसका प्रतिरोध करने के लिए स्वतंत्र है। और इस स्वतन्त्रता की चेतना में ही उसकी आत्मा की आध्यात्मिकता प्रदर्शित होती है। किसी सीमा तक भौतिकी इन्द्रियों की यंत्रक्रिया तथा विचारों के सृजन का स्पष्टीकरण कर सकती है। परन्तु संकल्प और चुनाव करने की शक्ति और इस शक्ति की अनुभूति में ऐसे कार्यों के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता जो विशुद्ध रूप से आध्यात्मिक हैं और पूर्णतः यन्त्रक्रिया के नियमों के द्वारा अबोध्य हैं।

इस पर भी यदि इन प्रश्नों से सम्बद्ध कठिनाइयाँ इस दिशा में मनुष्यों तथा पशुओं में अंतर के विषय में किसी मतभेद की गुंजाइश रखती हैं तो एक अन्य विशिष्ट गुण ऐसा है जो उनके अन्तर को स्पष्ट करता है और जिसमें किसी विवाद के लिए स्थान नहीं है। यह है आत्म-सुधार की शक्ति जो परिस्थितियों की सहायता से, हमारी अन्य सब शक्तियों का विकास करती हैं और जो प्रजाति (स्पीशी) में उसी भाँति निहित है जैसे कि एक व्यक्ति में। एक पशु कुछ माह पश्चात् भी उसी स्थिति में होता है जैसा कि वह अपने सम्पूर्ण जीवन में रहेगा और उसकी प्रजाति एक सहस्र वर्ष पश्चात् भी ठीक उसी दशा में होगी जैसी कि सहस्राब्दि के प्रथम वर्ष में थी। तब मनुष्य अकेला ही क्यों अवस्था-वृद्धि के साथ मूर्ख बनने के लिए बाध्य है? क्या इसका यह कारण नहीं है कि वह उसमें इस प्रकार अपनी आदिम अवस्था को पुनः लौटता है और पशु जो कुछ अर्जित नहीं करता है और इसलिए कुछ भी खोने के भय में नहीं रहता है, अन्त तक मूल प्रकृति की शक्ति को स्थायी बनाये रखता है; उधर मनुष्य, जो अवस्था या आकस्मिक दुर्घटना से वह सब कुछ गँवा देता है, जिसे उसकी परिपूर्णता ने प्राप्ति की क्षमता दी थी, इस प्रकार स्वयं पशुओं से भी नीचे स्तर पर गिर जाता है। यह बड़े दुःख की बात होगी यदि हम यह मानने के लिए बाध्य किये जायँ कि यह विशिष्ट और प्रायः असीमित आन्तरिक शक्ति समस्त मानवीय दुर्भाग्यों का स्रोत है या यह कि वह यही है जो समय पर मनुष्य को

उस प्राकृतिक अवस्था से दूर कर देती है जिसमें वह शान्ति एवं निर्दोषता में पड़े हुए अपने दिन बिता देता, या यह कि वह यही आन्तरिक शक्ति है जो युग-युगान्तर में उसके अन्वेषणों और उसकी त्रुटियों, उसकी बुराइयों तथा उसके गुणों को क्रमिक रूप से उत्पन्न करते हुए अन्ततोगत्वा उसे अपने तथा प्रकृति^१ दोनों के ऊपर एक निष्ठुर शासक बना देती है। यह अत्यन्त स्तब्धकारी होगा यदि हम उस मनुष्य को परोपकारी स्वीकार करने के लिए बाध्य हों जिसने उस्नोको इंडियनों (Oroonoko Indians) को उन तस्त्वियों का प्रयोग मुझाया जिन्हें वे अपने बच्चों की कनपटियों पर बाँधते हैं, जिससे उन्हें अपनी जड़ता और मूल आनन्द का कुछ अंश सुरक्षित मिलता है।

यदि बर्बर मानव को प्रकृति केवल अपनी सहज वृत्ति के भरोसे छोड़ देती है और जिन शक्तियों का उसमें अभाव है उसकी क्षतिपूर्ति दूसरे रूप में कर देती है तो उस बर्बर मानव को विशुद्ध पशु की भांति कार्यारम्भ करना होगा। इस प्रकार देखना और अनुभव करना होगा जो उसमें और अन्य सब जीवों में समान होगी, इच्छा करना या इच्छा न करना, कामना करना और भयभीत होना, उसकी आत्मा का प्रथम और शायद एकमात्र क्रियाकलाप होगा—जब तक कि नयी परिस्थितियाँ उसकी शक्तियों में नवीन विकास न करें।

नीतिकारों की चाहे जो धारणा हो, मानवीय अवबोध (Human Understanding) मनोवेगों (Passions) के प्रति अत्यन्त ऋणी है और जैसा कि सर्वव्यापक रूप से मान्य है मनोवेग भी अवबोध के प्रति बहुत ऋणी हैं। हमारा विवेक मनोवेगों की क्रिया से ही उन्नत होता है क्योंकि हम ज्ञान की इसीलिए आकांक्षा करते हैं कि उससे आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं और ऐसे किसी कारण का सोचना असम्भव है जिसके लिए वह मनुष्य, जिसे न डर है न आकांक्षा है, तर्क करने का कष्ट उठायेगा। मनोवेग हमारी आवश्यकताओं में जन्म लेते हैं और उनकी प्रगति हमारे ज्ञान की उन्नति पर निर्भर है क्योंकि तब तक हम न तो किसी वस्तु की इच्छा कर सकते हैं न उससे डर सकते हैं जब तक कि हममें उसकी कोई धारणा न हो या फिर वह इच्छा या भय प्रकृति के सहज आवेग (Impulse) में उत्पन्न हो सकता है। अब बर्बर व्यक्ति में, बुद्धिज्ञान के प्रत्येक प्रकार से वंचित रहने के कारण, परवर्ती प्रकार या प्रकृतिदत्त आवेग के अतिरिक्त और कोई मनोवेग नहीं हो सकता।

उसकी आकांक्षाएँ उसकी भौतिक आवश्यकताओं के बाहर कभी जा ही नहीं सकतीं। विश्व में जिन वस्तुओं को वह पहिचानता है वे भोजन, स्त्री तथा निद्रा मात्र हैं तथा जिन व्याधियों से वह डरता है वे दर्द और क्षुधा मात्र हैं। मैंने मृत्यु की नहीं वरन् दर्द की बात कही है क्योंकि कोई पशु यह नहीं जान सकता कि मृत्यु क्या है? मृत्यु का ज्ञान और उसका डर मनुष्य-द्वारा अर्जित उन वस्तुओं में से सर्वप्रथम है जिन्हें उसने पशु अवस्था को त्याग कर पाया है।

यदि आवश्यक हो तो उपर्युक्त मत का तथ्यों द्वारा समर्थन करना और यह प्रदर्शित करना सरल है कि विश्व के समस्त राष्ट्रों में अवबोध की वृद्धि ठीक उन आवश्यकताओं के अनुपात में रही है जो राष्ट्रों ने प्रकृति से प्राप्त की, अथवा परिस्थितियों द्वारा जिनके अधीन हुए। फलस्वरूप यह अवबोध उन मनोवर्गों के द्वारा हुआ है जिन्होंने इन आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु प्रेरित किया। उदाहरणार्थ मिश्र देश की विकासशील कलाओं की ओर संकेत किया जा सकता है जो नील नदी में बाढ़ के साथ-साथ प्रसरित होती गयीं। यूनान में भी उनकी उन्नति के चिह्न खोजे जा सकते हैं, जहाँ उन्होंने एटिका (Attica) के रेतीले एवं चट्टानी मैदानों में नवीन रूप में जन्म लिया, विकसित हुई तथा अन्तरिक्ष तक की महती ऊँचाई पायी। परन्तु वही यूरोटाज (Eurotas) के उपजाऊ तटों पर अंकुरित होने में विफल हुई। मैं कह सकता हूँ कि सामान्यतया उत्तरी प्रदेशों के निवासी दक्षिणी प्रदेशों के निवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक परिश्रमी हैं, क्योंकि वे बिना परिश्रम किये इतना अच्छा जीवन व्यतीत ही नहीं कर सकते; मानो प्रकृति उन्हें भूमि की उर्वरता के स्थान पर अवबोध की उर्वरता प्रदान करके स्थितियों में समानता उत्पन्न करना चाहती थी।

परन्तु अनिश्चित ऐतिहासिक प्रमाणों को चित्त में फिर लाये बिना यह कौन नहीं समझता कि प्रत्येक वस्तु बर्बर मानव से प्रलोभन और परिस्थितियों को परिवर्तित करने के साधनों दोनों को ही अलग करती हुई प्रतीत होती है? उसकी कल्पना कोई चित्र नहीं खींचती और उसका हृदय उससे कोई माँग नहीं करता है। उसकी न्यूनतम आवश्यकताएँ इतने शीघ्र पूर्ण हो जाती हैं, और वह उस ज्ञान से जो अधिक माँगने के लिए आवश्यक था, इतना दूर होता है कि उसमें न दूरदर्शिता हो सकती है और न जिज्ञासा। जैसे-जैसे प्रकृति से उसका परिचय बढ़ता जाता है उससे उदासीन होता जाता है। बर्बर मानव उस प्रकृति में सदैव एक ही व्याख्या और एक ही तारतम्य देखता है। उसमें इतना अवबोध

नहीं होता जो उसे महत्तम अलौकिक घटनाओं पर आश्चर्यचकित करा सके, न उसके मस्तिष्क में वह दार्शनिकता होती है जो मनुष्य के लिए आवश्यक है। उसकी आत्मा किसी बात से उत्तेजित नहीं होती और भविष्य का विचार किये बिना फिर वह भविष्य चाहे कितना ही निकट हो अपने वर्तमान अस्तित्व की भावनाओं में पूर्णतः निमग्न रहती है; और उसके कार्यकलाप, जो उतने ही संकुचित होते हैं जितने कि उसके विचार, कठिनाई से दिवसान्त तक चलते हैं। आज भी कैरीबिया के पुत्रों विवाहियों की दूरदर्शिता की स्थिति यही है। वह प्रातः अविवेकपूर्ण ढंग से, बिना इसका पूर्व विचार किये हुए कि उसे अगली रात्रि को पुनः उसकी आवश्यकता पड़ेगी, रुई का बिस्तर बेच आयेगा और सायंकाल उसको पुनः क्रय करने के लिए चिल्लाता फिरेगा।

इस विषय पर हम जितना ही अधिक चिन्तन करते हैं विशुद्ध संवेदन (Sensation) और सरलतम ज्ञान के बीच में उतना ही अधिक अन्तर प्रतीत होता है। यह अनुमान करना निश्चय ही असंभव है कि किसी संचार-साधन की सहायता और आवश्यकता की उत्तेजना के बिना मानव केवल अपनी शक्तियों के बल पर इतनी चौड़ी खाई को पाट सका हो। कितने युग-युगान्तर व्यतीत हुए होंगे जबकि मानव जाति आकाशीय अग्नि (सूर्य) के अतिरिक्त अन्य अग्नि के दर्शन करने योग्य स्थिति में हुई होगी ! कितने अवसर आये गये होंगे जब मनुष्य उस तत्व (अग्नि) के सरलतम उपयोग को सीख सका होगा ? इससे पहले कि वह उसको पुनः जलाने की कला को ग्रहण करे कितनी बार उसने उसको बुझ जाने दिया होगा ? और न जाने कितनी बार यह रहस्य उसी मनुष्य के साथ नष्ट हो गया होगा जिसने उसकी खोज की होगी ? हम कृषि के विषय में क्या कहें ? वह तो ऐसी कला है जिसमें इतने परिश्रम एवं दूरदर्शिता की आवश्यकता पड़ती है और जो दूसरों पर इतनी निर्भर रहती है कि स्पष्टतः वह ऐसे ही समाज में प्रयोग में लायी जा सकती थी जिसका निर्माण कम से कम प्रारंभ हो गया हो और जो धरती से आजीविका के उतने साधन प्राप्त करके संतुष्ट न हो जितने वह अपने आप उत्पन्न कर देती है वरन् उसको मनोवांछित उपज पैदा करने के लिए बाध्य करे। परन्तु हम यह मान लेते हैं कि मानवों की संख्या इतनी बढ़ गयी कि पृथिवी की प्राकृतिक उपज उनके पालन-पोषण के लिए पर्याप्त नहीं थी। यह एक ऐसी कल्पना है जो ऐसे जीवन को मानव जाति के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध करेगी। आइए, हम कल्पना करें कि बिना भट्टियों तथा कारखानों के, कृषि सम्बन्धी उपकरण

बर्बरों के हाथ में अन्तरिक्ष से टपक पड़े; हम यह भी कल्पना कर लें कि अनवरत श्रम के प्रति अपनी स्वाभाविक विरक्ति पर वे विजय पा गये; हम यह भी मान लेते हैं कि अपनी आवश्यकताओं के निमित्त पर्याप्त दूरदर्शिता पा गये; और यह भी कि उन्होंने अनुमान कर लिया कि धरती को कैसे जोता जाय, कैसे अनाज बोया जाय और कैसे वृक्षारोपण किया जाय; यह भी मान लेते हैं कि उन्होंने अनाज को पीसने तथा अंगूर की शराब खींचने की कलाओं का आविष्कार कर लिया हो। ये सभी बातें उन्हें देवताओं ने सिखायी होंगी क्योंकि यह विचार में लाना कठिन है कि उन्होंने स्वतः उन्हें खोज निकाला होगा। इतना सब होने के बाद भी उनमें से कौन ऐसा मूर्ख होगा जो ऐसी भूमि को जोतने का कष्ट करता जिसकी पहली फसल को, कोई भी प्रथम आगन्तुक मानव अथवा जन्तु इच्छानुसार जैसे उसका मन चाहे नोच डाले। और उनमें से प्रत्येक कैसे अपने जीवन को कष्ट-कारक परिश्रम में व्यतीत करने के लिए प्रतिज्ञा करेगा जबकि उसके लिए अपने परिश्रम का पुरस्कार पाना जितना ही अधिक आवश्यक हो उतना ही अधिक उसे न पा सकने की संभावना हो। संक्षेप में ऐसी स्थिति मनुष्य को भूमि जोतने के लिए किस प्रकार प्रेरित कर सकती थी, जब तक कि उसका आपस में बँटवारा न हो जाता अर्थात् जब तक कि प्राकृतिक अवस्था नष्ट न हो जाती ?

यदि हम यह मानने को उद्यत हो जायें कि बर्बर मानव विचार करने की कला में उसी भाँति दीक्षित है जैसा कि दार्शनिक बताते हैं; यदि उन्हीं की भाँति हम उसे एक ऐसा दार्शनिक मान लें जो भव्यतम सत्त्यों की छानबीन करने योग्य हो और जो तर्क की अत्यन्त अमूर्त शृंखलाओं द्वारा विवेक और न्याय के उन सूत्रों का निर्माण कर सके, जो साधारणतया व्यवस्था के प्रेम पर अथवा अपने सृजन-कर्त्ता की ज्ञात इच्छा पर आधारित हों; संक्षेप में, यदि हम उसे इतना बुद्धिमान तथा उन्नतिशील समझ लें जितना कि होना चाहिए पर वास्तव में वह अत्यन्त मंदबुद्धि और ज्ञानहीन निकले, तो बताइए इस प्रकार की समस्त आत्म-विद्या से मानव प्रजाति को क्या लाभ होगा, जो एक व्यक्ति द्वारा दूसरे तक न पहुँच सकी, वरन् उसी व्यक्ति के साथ समाप्त हो गयी जिसने उसको सृजित किया ? अन्य पशुओं के बीच जंगलों में छिपती हुई मानव जाति क्या उन्नति कर सकती थी ? मानव किस भाँति अपना स्तर ऊँचा कर सकते थे अथवा एक दूसरे को सिखा सकते थे जबकि उनका न कोई निश्चित आवास था और न एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता थी; जबकि एक ही आदमी जीवन में दो बार शायद ही मिलते थे और

मिलते भी थे तो वे एक दूसरे को न जानते थे अथवा परस्पर सम्भाषण न कर सकते थे ?

इस पर विचार किया जाना चाहिए कि ऐसे कितने विचार हैं जो वाणी के प्रयोग से हमें उपलब्ध हुए हैं। तथा व्याकरण अवबोध का किस सीमा तक प्रयोग करता और उसकी क्रियाओं को सुगम बनाता है ! हम इस पर विचार करें कि भाषाओं के प्रथम आविष्कार से पहले कितने अकल्पनीय कष्ट झेलने पड़े होंगे तथा उसमें असीम कालावधि व्यतीत हुए होंगे ? इन विचारों में जो पूर्व स्थिति रही होगी वह जोड़ दी जाय और तब यह निर्णय किया जाय कि मानवी मस्तिष्क में उन क्रियाओं के क्रमिक विकास में कितने सहस्र युग व्यतीत हो गये होंगे।

यहाँ कुछ क्षणों के लिए मैं भाषाओं के उद्गम की कठिनाइयों पर विचार करना चाहूँगा। इस विषय में मैं केवल ऐबे काण्डीलाक, (Abbe Candillac) के पर्यवेक्षणों को दोहराकर सन्तोष करूँगा क्योंकि उनसे मेरी प्रणाली का पूर्ण समर्थन होता है और सम्भवतः उन्हीं के द्वारा सर्वप्रथम इसका मुझाव भी मिला है परन्तु जिस ढङ्ग से इस दार्शनिक ने निर्णायक बिन्दुओं की उद्गम सम्बन्धी स्वतः-निर्मित कठिनाइयों को हल किया है उससे स्पष्ट है कि वह उस तथ्य को पहिले ही मान लेता है जिसमें मुझे सन्देह है अर्थात् भाषा के प्रथम आविष्कारकों के मध्य समाज का एक रूप निश्चय ही पहिले से ही विद्यमान रहा होगा। इसलिए जबकि मैं इस विषय पर उसके निष्कर्षों की ओर सकेत करता हूँ तो अपना मन्तव्य भी देना उचित समझता हूँ जिससे अपने विषय के अनुरूप दृष्टिकोण में उन्हीं कठिनाइयों को प्रदर्शित कर सकूँ। सर्वप्रथम कठिनाई जो सम्मुख आती है यह विचार है कि भाषा क्योंकर आवश्यक बन गयी; क्योंकि मानवों में जब पारस्परिक मनो-भावों का आदान-प्रदान ही नहीं था, और न उसकी आवश्यकता ही थी तो हम न तो इस आविष्कार की आवश्यकता की और न उसकी सम्भावना की कल्पना कर सकते हैं। दूसरों की भाँति मैं इस बात का समर्थन कर सकता हूँ कि भाषाओं की उत्पत्ति माता-पिता एवं बच्चों के पारस्परिक घरेलू संलाप से हुई। परन्तु इस उपाय से कठिनाई दूर नहीं होगी वरन् एक और बड़ी त्रुटि उपस्थित हो जायगी जो प्राकृतिक अवस्था के विषय में तर्क करते हुए सामाजिक अवस्था के विचार लादने से सदैव हो जाती है। क्योंकि इस प्रकार वे मानकर चलते हैं कि परिवार अनवरत रूप में एक ही गृह में साथ-साथ रहते थे और प्रत्येक परिवार

के व्यक्तियों में परस्पर उतना ही घनिष्ट एवं स्थायी ऐक्य था जैसाकि हमारे मध्य है, जिनको इतने सामान्य स्वार्थ संयुक्त किये हुए हैं जबकि उस आदिम अवस्था में मनुष्यों के पास न तो भवन थे, न झोपड़े और न ही किसी प्रकार की सम्पत्ति थी। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ स्थान पाता रह जाता और प्रायः एक रात्रि से अधिक कभी नहीं। नर व मादा का संयोग बिना किसी परिकल्पना के होता—मानो किसी घटना, अवसर अथवा इच्छा से वे संपर्क में लाये गये हों। न उनको अपना अभि-प्राय प्रकट करने के लिए शब्दों की बड़ी आवश्यकता थी; वे उसी उदासी-नता से बिदा हो जाते थे। सर्वप्रथम माँ ने अपने ही सन्तोष के लिए बच्चे को दुग्धपान कराया और तत्पश्चात् जब स्वभाव ने उन्हें प्रिय बना दिया तो उनके सन्तोष के लिए भी दूध पिलाने लगी; परन्तु जैसे ही वे बच्चे इतने बलिष्ठ हो जाते कि स्वतः भोजन की खोज में जा सकें, तो वे स्वेच्छा से माता का परित्याग कर देते थे। और चूँकि एक दूसरे के सम्मुख निरंतर रहने के अतिरिक्त उनको एक दूसरे को खोने का कोई अन्य उपाय न था इसलिए पुनः मिलने पर वे परस्पर पहचान लेने में नितान्त असमर्थ हो जाते थे। इसके अतिरिक्त यह भी द्रष्टव्य है कि बच्चे को अपनी सब आवश्यकताओं को प्रकट करना और समझाना पड़ता रहा होगा। अस्तु, माता के उससे कहने की अपेक्षा उसको माता से अधिक कहना पड़ता था। इस प्रकार बच्चे पर आविष्कारों का अधिक भार पड़ा। और उसने जिस भाषा का प्रयोग किया होगा वह उसकी अपनी रही होगी। परिणामतः जितने व्यक्ति उतनी ही भाषाएँ रही होंगी और उनकी विभिन्नता उनके उस घुमक्कड़ तथा भटकते जीवन से बढ़ गयी होगी जिसे वे व्यतीत कर रहे थे और जिसमें इतना समय नहीं मिलता था कि किसी मुहाविरे में स्थिरता आ जाय। क्योंकि केवल इतना कहना कि माता ने बालक को उन शब्दों के प्रयोग के लिए निर्देश किया जिनके द्वारा उसे एक अथवा दूसरी वस्तु को उससे माँगना था, तो पहले से ही निर्मित भाषाओं के सिखाने की प्रणाली का स्पष्टीकरण है। और इससे किसी भी प्रकार यह स्पष्ट नहीं होता कि भाषाओं का सृजन मूलतः कैसे हुआ।

इतने पर भी, हम यह मान लेंगे कि हमारी प्रथम कठिनाई टल गयी। कुछ क्षणों के लिए हम अपने को, उस अपार युग के, जो एक विशुद्ध प्राकृतिक अवस्था तथा भाषा के अनिवार्य प्रचलन वाली दशा के मध्य में व्यतीत हुआ होगा, इस ओर स्थित कर लें और उनकी आवश्यकता को स्वीकार करते हुए खोज करें

कि वे किस भाँति सर्वप्रथम स्थापित हो सकी थीं। यहाँ हमारे सम्मुख एक नवीन एवं अधिक उलझन वाली कठिनाई उपस्थित हो जाती है क्योंकि यदि मनुष्यों को सोचना सीखने के लिए वाणी आवश्यक है, तो वाक्कला के आविष्कार करने के योग्य बनने से पूर्व उनको चिन्तन कला की और भी अधिक आवश्यकता हुई होगी। और यद्यपि हम यह कल्पना कर सकते हैं कि किस प्रकार वाणी के स्पष्ट उच्चारण की ध्वनियाँ हमारे विचारों की परम्परागत व्याख्या करनेवाली बन गयीं, तथापि हमारे लिए यह जाँच करना शेष रह जायगा कि उन विचारों के लिए इस परम्परा के व्याख्यानकर्त्ता कौन रहे होंगे जो इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं से सम्बन्ध न होने के कारण वाणी अथवा संकेतों द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते थे। अस्तु, हम अपने विचारों को व्यक्त एवं सूचित करने की, एक मन के भाव को दूसरे तक पहुँचाने की कला के उद्गम के सम्बन्ध में कोई उपयुक्त अनुमान नहीं लगा सकते; ऐसी भव्य कला कि यद्यपि वह अपने उद्गम से इतनी दूर आ गयी है, फिर भी दार्शनिक लोग उसे पूर्णता से इतनी दूर समझते हैं कि कोई ऐसा व्यक्ति नहीं दिखायी पड़ता जो निश्चयपूर्वक यह कह सके कि उस पूर्णवस्था को कभी पहुँचा भी जा सकता है, भले ही क्रातियाँ, जो काल-चक्र से अनिवार्यतः उत्पन्न होती हैं, बराबर इसके पक्ष में निलम्बित होती रहें; हमारी अकादमियों (Academies) से पक्षपात का बहिष्कार हो जाय या उनके ओठों पर मौन थोप दिया जाय और उन विद्वत् मंडलियों को बिना रोक-टोक के युग-युगान्तर तक इस जटिल प्रश्न पर विचार करने दिया जाय।

मानवजाति की सर्वप्रथम भाषा, सबसे स्पष्ट तथा सार्वभौम भाषा संक्षेप में मानव-द्वारा वाञ्छित एकमात्र भाषा, एकत्र समुदायों को प्रभावित कर पाने की वक्तृत्व शक्ति को कार्यान्वित करने का अवसर पाने से पहले, प्रकृति की एक सरल पुकार मात्र थी। परन्तु चूँकि यह केवल अत्यावश्यक अवसरों पर मूल-वृत्ति द्वारा संकट में सहायता की याचना करने के लिए अथवा कष्ट से छुटकारा प्राप्त करने के लिए उत्तेजित होती थी, जीवन की साधारण गतिविधि में, जिसमें अधिक उदार भावनाएँ प्रचलित रहती हैं, कोई विशेष लाभप्रद नहीं सिद्ध हो सकती थी। जब मानव के विचारों में वृद्धि और विस्तार आया और पारस्परिक आदान-प्रदान अधिक होने लगा तो वे बहुसंख्यक संकेतों और व्यापक भाषा का आविष्कार करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने वाणी के लचीलेपन को अत्यधिक बढ़ाया और ऐसी भाव-मंगियों में वृद्धि की जो अपने-आप में ही अधिक द्योतक हैं और अपने

अर्थों के लिए पूर्व निश्चय पर कम निर्भर रहता है। इसलिए दृश्य एवं सचल पदार्थों की अभिव्यक्ति भाव-भंगियों एवं संकेतों द्वारा हुई और श्रव्य की अनुकरणीय ध्वनियों द्वारा। परन्तु चूँकि भाव-भंगियों द्वारा वास्तविक रूप में विद्यमान पदार्थों अथवा सरलता से निरूपित और द्रष्टव्य क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु व्यक्त नहीं की जा सकती; चूँकि वे सार्वभौम रूप से लाभप्रद नहीं क्योंकि अंध-कार अथवा जड़ पदार्थों के व्यवधान के कारण उनका प्रभाव नष्ट हो जाता है और फिर वे हमारा ध्यान आकृष्ट करने की अपेक्षा उसके लिए मानो प्रार्थना करती हैं, इसलिए अन्त में, मानव ने उनके स्थान पर वाणी की स्पष्ट ध्वनियों को प्रतिस्थापित करने का विचार किया जो किन्हीं विशेष भावों से कोई सम्बन्ध न रखते हुए भी परम्परागत चिह्नों के रूप में व्यक्त होने के अधिक उपयुक्त हैं। ऐसी संस्था का निर्माण केवल सबकी सहमति से ही हो सकता था और वह ऐसे ढंग से निश्चित ही प्रभावित हुई होंगी जो उन मानवों के लिए ज्यादा सरल नहीं थे, जिनकी इन्द्रियाँ इस प्रकार के किसी भी प्रयोग की अभ्यस्त नहीं थीं। यह स्वयं भी कल्पना करने में और कठिन है क्योंकि ऐसा समझौता किन्हीं प्रयोजनों से ही हो सकता था और उसके प्रयोग को प्रचलित करने के लिए वाक्शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हुई होगी।

यह अनुमान करना तर्कसंगत होगा कि मानव जाति द्वारा सर्वप्रथम प्रयुक्त शब्दों का अभिप्राय उनकी अपेक्षा कहीं व्यापक था जिनका प्रयोग पहले से ही सृजित भाषाओं में होता था और चूँकि वे लोग सम्भाषण को अंगीभूत अंशों में विभाजित करने से अनभिज्ञ थे, इसलिए उन्होंने पहिले पहल प्रत्येक पृथक शब्द को पूर्ण वाक्य का आशय दिया। जब वे कर्त्ता एवं विशेषण और संज्ञा व क्रिया में अन्तर समझने लगे, जो किसी प्रतिभा का सामूहिक प्रयास नहीं था, तो संज्ञा रूप पहिले पहिल केवल बहुत से सामान्य व्यक्तिवाचक नाम थे; क्रियाओं में केवल अपरिमित वर्तमान काल था; और विशेषणों का विचार मात्र भी बड़ी कठिनाई से विकसित हुआ होगा; क्योंकि प्रत्येक विशेषण एक अमूर्त भाव है और अमूर्तता कष्टदायक एवं अनैसर्गिक क्रिया है।

सर्वप्रथम प्रत्येक पदार्थ ने बिना वंश वा प्रजाति के विचार के एक विशेष नाम पाया क्योंकि वे आदिम शब्द निर्माता इनके बीच भिन्नता समझने की स्थिति में नहीं थे। उनके मस्तिष्क-पटल पर प्रत्येक व्यक्ति अपने को उस एकाकी रूप में व्यक्त हुआ जिसमें कि वह प्रकृति के चित्र में हैं। यदि एक बलूत के वृक्ष को 'अ'

कहकर पुकारा गया तो दूसरे को 'ब'; क्योंकि दो वस्तुओं के सम्बन्ध में आदिम विचार यह था कि वे एक समान नहीं हैं, और यह समझने के लिए कि उनमें क्या समान रूप से विद्यमान है, बहुत समय लगता था। इसलिए उनके वस्तु ज्ञान विषय की सीमाएँ जितनी संकुचित होतीं उतना ही व्यापक उनका शब्दकोश होना आवश्यक था। ऐसे शब्दों के कोश का प्रयोग करनेवाली कठिनाइयों का निवारण सरल नहीं था। क्योंकि वस्तुओं का सामान्य एवं वंशगत (generic) वर्गीकरण करने के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे उनकी विशेषताओं में अन्तर समझें। फलतः निरीक्षण तथा परिभाषा की आवश्यकता उत्पन्न हुई अर्थात् उस समय तक मनुष्य को प्राप्त ज्ञान से कहीं ज्यादा विकसित प्रकृति-विज्ञान एवं आत्म-विद्या की आवश्यकता हुई।

इसके साथ यह भी सोचिए कि मस्तिष्क में सामान्य विचार बिना शब्दों की सहायता के प्रविष्ट ही नहीं हो सकते और न वस्तुव्यों की सहायता के बिना अवबोध उन्हें ग्रहण कर सकता है। यह भी एक कारण है जिससे पशु ऐसे विचारों को ग्रहण नहीं कर सकते और न ही आत्मोन्नति की वह क्षमता ही प्राप्त कर सकते हैं। जब एक बन्दर एक नारियल के वृक्ष से दूसरे पर जाता है तो क्या हम कल्पना कर सकते हैं कि उस जाति के फल के विषय में उसका कोई साधारण विचार होता है और वह दोनों नारियलों में से प्रत्येक की असली नमूने से कोई तुलना करता है। निश्चय ही वह ऐसा नहीं कर सकता। परन्तु एक नारियल के दर्शन से उसमें दूसरे नारियल से प्राप्त संवेदन की स्मृति जागरित हो जाती है और उसके नेत्र, एक निश्चित प्रणाली से संस्कारित होने के कारण उसे उस संस्कारित स्वाद की सूचना दे देते हैं जो उसे मिलने ही वाला है। प्रत्येक सामान्य विचार पूर्णतः बौद्धिक है। यदि कल्पना तनिक भी किसी भी अवस्था में हस्तक्षेप करती है तो विचार तुरन्त व्यक्तिगत हो जाता है। यदि आप सामान्य वृक्ष के आकार का अक्स अपने मस्तिष्क पर खींचने का प्रयास करें तो आप उस लक्ष्य पर कभी नहीं पहुँचेंगे। सब प्रकार के प्रयास करने पर भी आप उसे एकदम बड़ा अथवा छोटा, पातहीन अथवा पत्तों से लदा हुआ, प्रकाशमान अथवा अंधकारमय, किसी एक विशेष रूप में ही देख पायेंगे। यदि आप उसमें उन समानताओं के अतिरिक्त जो सभी वृक्षों में पायी जाती हैं, अन्य कुछ भी न देख सकने की क्षमता रख सकें तो फिर वृक्ष वृक्ष ही न रह जायगा। विशुद्ध भावात्मक या अमूर्त वस्तुएँ इसी भाँति द्रष्टव्य या केवल भाषा के माध्यम से विचार करने योग्य हैं। एक त्रिकोण की परिभाषा आपको

उसके यथार्थ स्वरूप का आभास दे देती है। जिस क्षण आप एक त्रिकोण की कल्पना अपने मस्तिष्क में लाते हैं वह कोई विशेष त्रिकोण ही होता है, दूसरा नहीं; और आप उसे इन्द्रियग्राह्य रेखाएँ और रंजित क्षेत्र देने की क्रिया से बच नहीं सकते। अस्तु सामान्य विचारों को ग्रहण करने के लिए हमें वचन तथा भाषा का प्रयोग निश्चित रूप से करना चाहिए क्योंकि जैसे ही कल्पना अपना काम करना बन्द कर देती है तो अवबोध केवल शब्दों की सहायता से उत्पन्न होता है। यदि मान लिया जाय कि वाणी के सर्वप्रथम निर्माता उन्हीं विचारों का नामकरण कर सकते थे जो उनके पहिले से मौजूद थे तो इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वप्रथम विशेष्य, केवल व्यक्तिगत नामों के अलावा और कुछ नहीं हो सकते थे।

परन्तु जब हमारे नवीन व्याकरणाचार्य, ऐसे साधनों से जिनकी मुझे कोई धारणा नहीं है, अपने विचारों को विकसित करने और उनके पारिभाषिक रूपों को व्यापक बनाने लगे, तो निर्माताओं की अबोधता ने इस प्रणाली को अत्यन्त संकुचित सीमाओं में प्रतिबन्धित कर दिया होगा। आरम्भ में वंश एवं प्रजाति की अबोधता के कारण वे व्यक्तियों के नामों में वृद्धि करने में अति कर गये, किन्तु बाद में केवल अत्यल्प नामों का निर्माण किया क्योंकि उस समय वस्तुओं पर उनकी समस्त विभिन्नताओं के साथ विचार करना उन्होंने छोड़ दिया। उन विभिन्नताओं को समुचित सीमा तक ले जाने के लिए इतने ज्ञान एवं अनुभव की आवश्यकता होती जो उनकी सामर्थ्य के बाहर था तथा जिसके लिए इतने कष्ट एवं अनुसंधान की आवश्यकता होती जितना वे न उठा सकते थे। यदि आज भी हम अनवरत रूप से उन नवीन प्रजातियों की खोज कर रहे हैं जो अब तक के पर्यवेक्षण से बच गयी हैं तो हमको सोचना चाहिए कि उस जमाने में उनमें से कितनी अधिक उन मनुष्यों से बच गयी होंगी जिन्होंने वस्तुओं को केवल उनकी प्रथम आकृति से पहिचाना होगा। यह कहना आवश्यक है कि आदिम वर्ग और उनके अति साधारण मन्तव्य भी उनकी दृष्टि से निश्चित ही ओझल हो गये होंगे। उदाहरणार्थ वे द्रव्य, आत्मा, तत्व, प्रकार, आकृति, गति आदि शब्दों को किस प्रकार समझ अथवा विचार सकते थे जबकि हमारे दार्शनिक भी जो इतने समय से उनका प्रयोग करते रहे हैं, उन्हें समझने में सबसे अधिक कठिनाई अनुभव करते हैं और जबकि इन शब्दों से संबंधित विचार विशुद्ध आध्यात्मिक होने के कारण, इनका प्रतिरूप प्रकृति में दृष्टिगत नहीं होता।

परन्तु इस विन्दु पर आकर मैं रुक जाता हूँ और यहाँ मैं अपने निर्णायकों से

अध्ययन को कुछ पल स्थगित करने के लिए और इस पर ध्यान देने के लिए कहूँगा कि प्राकृतिक संज्ञाओं के आविष्कार के पश्चात् भाषा का कौन सा ऐसा सबसे सरल अंग है जिसका आविष्कार हो सकता है? इसके पहले कि मानव के विचार पूर्ण अभिव्यक्ति और अपरिवर्तनशील आकार प्राप्त कर सकते अर्थात् वक्तृत्व के उद्देश्य की पूर्ति कर सकते और समाज पर अपना प्रभाव व्यक्त कर पाते, अभी बड़ी मंजिल तय करने को शेष थी। मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि वे विचार करें कि संख्याओं, भाववाचक शब्दों, भूतकालिक बातों और क्रियाओं के सभी काल विभागों, पद-विन्यास, संधि प्रणाली, तर्क करने की रीतियाँ और वाणी के समस्त तर्क की खोज करने में कितना समय लगा होगा तथा कितने ज्ञान की आवश्यकता हुई होगी। जहाँ तक मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध है मैं उत्तरोत्तर बढ़ती हुई कठिनाइयों पर भय से इतना चकित हूँ और भाषाएँ अपने सृजन के लिए केवल मानवीय साधनों पर निर्भर हैं, इसे इतना असंभव मानता हूँ कि जो कोई भी इस कठिन विषय पर चर्चा करने का भार उठाना चाहे उस पर यह छोड़ देता हूँ कि भाषा के आविष्कार के लिए समाज का अस्तित्व अधिक आवश्यक है या समाज की स्थापना के लिए भाषा का आविष्कार अधिक आवश्यक है। परन्तु भाषा एवं समाज का उद्गम चाहे कुछ भी रहा हो, कम से कम यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रकृति ने जो थोड़ी सतर्कता मानव जाति को पारस्परिक आवश्यकताओं द्वारा सम्बद्ध करने में, तथा वाणी के प्रयोगों को सरल बनाने में रखी है, इसके द्वारा उसने उन्हें सामाजिक जीव बनाने में और ऐक्य के बंधनों का सृजन करने में अपना भी कुछ अंश डालकर कुछ न कुछ योग ही दिया है। वास्तव में यह कल्पना करना नितान्त असम्भव है कि प्राकृतिक अवस्था में, मनुष्य को एक दूसरे की सहायता की उससे अधिक आवश्यकता क्यों अनुभव हुई जितनी एक बन्दर अथवा एक भेड़िया अपनी जाति के एक जीव से लेने की आवश्यकता अनुभव करता है; और यदि मान भी लिया जाय कि उसे आवश्यकता हुई, तो दूसरे मनुष्य को किस प्रयोजन ने सहायता करने के लिए प्रेरणा दी और वे उन शर्तों पर किन साधनों से सहमत हो सके। मुझे ज्ञात है कि यह अविच्छिन्न रूप से दोहराया जाता है कि मानव ऐसी स्थिति में समस्त प्राणियों में अत्यन्त विपन्न रहा होगा^१ और वास्तव में यदि यह सत्य है तो, जैसा कि मैंने प्रमाणित किया, ऐसी इच्छा करने या उससे बाहर निकलने का अवसर पाने

के पूर्व मानव युगों तक जीवित रहा होगा। ऐसी अवस्था में यह प्रकृति के विरुद्ध एक आरोप होगा न कि उस प्राणी के विरुद्ध जिसे उसने ऐसा विपन्न बनाया। परन्तु 'विपन्न' शब्द से मैं जो तात्पर्य समझता हूँ उससे या तो उसका कुछ अर्थ नहीं होता अथवा वह किसी वस्तु विशेष का एक कष्टदायक प्रभाव या शरीर या आत्मा की एक दुःखद स्थिति को सूचित करता है। मुझे प्रसन्नता होगी यदि मेरे सम्मुख कोई व्याख्या कर दे कि एक स्वतंत्र जीवित प्राणी, जिसका हृदय प्रशांत है और शरीर स्वस्थ है किस प्रकार के कष्ट से पीड़ित हो सकता है? मैं यह भी पूछता हूँ कि इस प्रकार का जीवन व्यतीत करनेवालों को, सामाजिक जीवन अधिक असह्य होता है अथवा प्राकृतिक जीवन? शिष्ट समाज में हम कठिनाई से ही कोई ऐसा प्राणी देखते हैं जो अपने जीवन को दयनीय न बताता हो। हम बहुतों को तो स्वयं को उतने सुख से भी वंचित करते हुए पाते हैं जो कि वे भोग सकते हैं। दैवी एवं मानवी नियम मिलकर भी ऐसी अव्यवस्था को रोक नहीं सकते। मैं पूछता हूँ कि क्या कभी कोई बर्बर व्यक्ति, जब वह स्वतंत्र था, जीवन के विषय में शिकायत करने अथवा आत्महत्या करने का विचार मन में लाता था? इसलिए हमें अपने गर्व को ज़रा कम करके यह निर्णय करना चाहिए कि वास्तविक कष्ट या विपन्नता किस ओर है। दूसरी ओर विज्ञान से स्तब्ध, मनोवेगों से सताये हुए और अपने से भिन्न परिस्थिति के विषय में तर्कशील बर्बर व्यक्ति से अधिक दुःखित और कोई नहीं हो सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि दैव ने बड़ी बुद्धिमानी से यह निश्चय किया कि मानव में जो प्रसुप्त आंतरिक शक्तियाँ हैं, जैसे जैसे प्रयोग का अवसर प्राप्त हो, अपने को स्वयं विकसित करें जिससे वे निरर्थक अथवा मानव के समय से पहले प्रदर्शित हो जाने के कारण मानव के लिए और उलझन पैदा करनेवाली न हो जायँ और, न उस समय शिथिल और निरर्थक हो जायँ जब उनकी आवश्यकता उत्पन्न हो। उसके लिए प्राकृतिक अवस्था में जीवित रहने के लिए जो कुछ आवश्यक था, वह सब उसकी सहज वृत्ति (instinct) में ही विद्यमान था। और विकसित ज्ञान के साथ समाज में जीवन निर्वाह करने के लिए उसमें केवल किसी कदर सामर्थ्य शेष है।

प्रथम दृष्टि में प्रतीत होता है कि प्राकृतिक अवस्था में, जबकि मनुष्य के न तो नैतिक सम्बन्ध थे और न पारस्परिक जिम्मेदारियाँ थीं, तब वह न तो भला ही हो सकता था और न बुरा, न सदाचारी ही और न पतित ही—जब तक कि हम इन शब्दों को बिल्कुल पार्थिव अर्थ में न लें और एक व्यक्ति की उन विशेषताओं

को जो उसके अस्तित्व के लिए ही अहितकर हों, दोष और जो उसमें योग दें उन्हें गुण कहकर न पुकारें। तब ऐसी दशा में वह अत्यन्त सद्गुणी ठहराया जायगा क्योंकि वह प्रकृति की विशुद्ध अन्तःप्रेरणा पर कम से कम प्रतिबन्ध लगानेवाला था। परन्तु शब्दों के साधारण अर्थ से विचलित हुए बिना उस निर्णय को स्थगित कर देना उचित ही होगा जो हम ऐसी अवस्था के विषय में करने के लिए बाध्य हों तथा अपने पूर्व संस्कारों से तब तक अपना बचाव करें जब तक कि निष्पक्ष मापदण्ड द्वारा विषय का मूल्यांकन न कर लें और यह न जान लें कि सम्य मानवों में गुणों का बाहुल्य है अथवा दोषों का; मानवों के गुण उनके लिए अधिक हितकर हैं अथवा उनके दोष अधिक हानिकर हैं; तथा जब तक हम यह ज्ञात न कर लें कि जिस अनुपात में वे परस्पर एक दूसरे के प्रति शरारत करते हैं, विज्ञान की उन्नति ने क्या उसकी क्षतिपूर्ति कर रखी है या वे अभिज्ञ होने के कारण उतनी भलाई भी करते हैं जितनी उन्हें करनी चाहिए। यह भी जान लेना ठीक होगा कि यदि उन्हें किसी का भय न हो या किसी अन्य से कोई आशा भी न हो तो उस वर्तमान परिस्थिति से, जिसमें वे व्यापक निर्मरता से ग्रस्त हैं और उनसे प्रत्येक वस्तु लेने के लिए बाध्य हैं जो कि कुछ भी न देने को वचनबद्ध हैं, क्या वे कहीं ज्यादा सुखपूर्ण अवस्था में न होंगे? इन सब बातों के बाद भी हम हॉब्स की भाँति यह परिणाम न निकालें कि चूँकि मानव में भलाई की कोई धारणा नहीं, इसलिए वह नैसर्गिक रूप से दुष्ट ही होगा; या कि वह दुष्ट है क्योंकि वह सद्गुण जानता ही नहीं; या यह कि वह सदैव अपने साथी प्राणियों की ऐसी सेवा करने से इन्कार करता है, उसके मत से जिन्हें माँगने का उन्हें अधिकार नहीं है; अथवा जिस वस्तु की उसे आवश्यकता होती है उसी पर वह अपने जन्मजात अधिकार के कारण पूर्ण स्वामित्व प्रकट करता है, और मूर्खता से अपने को समस्त विश्व का स्वामी समझता है। हॉब्स ने प्राकृतिक अधिकार की समस्त आधुनिक परिभाषाओं के दोष जान लिये थे परन्तु उसके परिणाम जो उसने निष्कर्ष के रूप में निकाले हैं, प्रकट करते हैं कि वह भी उनको उसी तरह गलत समझता है। जिन सिद्धान्तों का वह निरूपण करता है उन पर तर्क करते हुए उसे कहना चाहिए था कि प्राकृतिक अवस्था में अपने संरक्षण की चिन्ता दूसरे के संरक्षण में कम से कम बाधक होती है; फलस्वरूप वह शान्ति-स्थापना में योग देने के लिए सर्वोत्तम और मानव जाति के लिए सबसे उपयोगी थी। किन्तु चूँकि उसने अनुचित रूप से मान लिया है कि बर्बर व्यक्ति की आत्म-संरक्षण-संबंधी चिन्ता के फलस्वरूप मनोविकारों के समूह की तृप्ति

ने, जो वस्तुतः समाज की देन है, नियमों को आवश्यक बना दिया है, इसलिए वह इसके एकदम विपरीत कहता है। उसके कथनानुसार एक दृष्ट व्यक्तित्व तगड़े बालक के सदृश है। परन्तु यह प्रमाणित करना शेष है कि क्या मानव प्राकृतिक अवस्था में भी तगड़ा बालक ही होता है और यदि हम स्वीकार कर लें कि होता है, तो उससे क्या निष्कर्ष निकलेगा? यदि सचमुच ही यह मानव बलिष्ठ एवं शक्तिशाली होते हुए भी दूसरों पर इसी भाँति निर्भर था, जिस भाँति दुर्बल होने पर रहता है, तो ऐसी कोई अति नहीं जिसका वह दोषी न होगा; यह कि यदि माँ उसे दुग्धपान कराने में तनिक भी शिथिलता दिखायेगी, तो वह उस पर भी हाथ उठायेगा और कष्टदायक होने पर तो वह अपने छोटे भ्राताओं में से किसी का भी गला घोट देगा अथवा यदि कोई उसे असुविधा पहुँचायेगा तो वह दूसरे के बाजू में काट लेगा। परन्तु मानव का प्राकृतिक अवस्था में एक ओर शक्तिशाली होना तथा दूसरी ओर निर्भर होना, दो विपरीत कल्पनाएँ हैं। मनुष्य तभी दुर्बल होता है जब वह दूसरे पर निर्भर होता है और शक्तिशाली होने से पूर्व वह अपना स्वामी बन जाता है। हॉब्स ने इस पर विचार नहीं किया था कि वही कारण जो बर्बर को अपनी तर्कशक्ति का उपयोग करने से रोकता है, जैसाकि हमारे न्यायशास्त्री कहते हैं, उसे अपनी आन्तरिक शक्तियों का दुरुपयोग करने से भी रोकता है, जैसाकि हॉब्स ने स्वयं ही स्वीकार किया है। इसलिए औचित्य के साथ यह कहा जा सकता है कि बर्बर केवल इसीलिए बुरे नहीं हैं कि वे यह नहीं जानते कि भला क्या है; क्योंकि जो उन्हें बुरा करने से रोकता है, वह न तो अवबोध का विकास है और न नियम का प्रतिबन्ध है; बल्कि मनोविकारों की शांतिप्रियता है तथा दुराचार से उनकी अनभिज्ञता है:—

*Tanto plus in illis proficit bitiorum ignoratio, quam in his cognitio virtutis.*⁹

एक दूसरा सिद्धान्त भी है जो हॉब्स की दृष्टि में नहीं आया। यह सिद्धान्त मानव जाति को इसलिए प्रदान किया गया है कि वह कुछ अवसरों पर उसके अहंभाव की तीव्रता को तथा अहंभाव के जन्म के पूर्व आत्मरक्षण की इच्छा को कोमल

१. जस्टिन हिस्ट्री : अवगुण से अनभिज्ञता, गुण की अभिज्ञता की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ पहुँचाती है।

करता है।^१ अपने सहचर प्राणी को कष्ट से पीड़ित देख मानव में जो सहज जुगुप्सा उदित होती है उसके द्वारा केवल अपने हित का अनुसरण करने के उत्साह को वह मन्द कर देता है। मेरे विचार से इस धारणा के रखने में मुझे किसी विरोध का डर नहीं कि मानव केवल उसी प्राकृतिक गुण से सम्पन्न है जो मानवी गुण के सबसे

१. अहंभाव को स्वाभिमान से मिश्रित नहीं करना चाहिए क्योंकि वे दोनों आपस में तथा प्रभावों में भी भिन्न हैं। स्वाभिमान एक स्वाभाविक अनुभूति है जो प्रत्येक जन्तु को स्वतः आरक्षण के लिए उन्मुख करती है और जो मानव में तर्क द्वारा निर्देशित और अनुकम्पा से संशोधित होने पर मानवता एवं सद्गुण का निर्माण करती है। अहंभावना केवल आपेक्षिक और कृत्रिम भावना है जो सामाजिक अवस्था में उत्पन्न होती है। वह प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों की अपेक्षा अपना भला कराने की ओर ले जाती है और समस्त आपसी हानि का, जो एक दूसरे को मनुष्य पहुँचा सकते हैं, कारण है और 'सम्मान की भावना' का मुख्य स्रोत बन जाती है। इतना समझ में आ जाने के पश्चात् मेरी धारणा है कि हमारी आदिम स्थिति में, प्रकृति की वास्तविक अवस्था में अहं की भावना विद्यमान नहीं थी। चूँकि प्रत्येक मनुष्य अपनी क्रियाओं का एकमात्र प्रेक्षक अपने को ही समझता था, विश्व में केवल वही एक व्यक्ति अपने में रुचि रखता था और उसके गुण-अवगुण का एकमात्र निर्णायक था। अतः ऐसी कोई भावना जो दूसरे से तुलना करने पर उसको बाध्य कर सकती, उसकी आत्मा को प्रभावित न कर सकती थी। उसी कारण न वहाँ बदला लेने की इच्छा और न घृणा जागरित हो सकती थी क्योंकि ऐसे मनो-वेग केवल आघात की भावना से ही जागरित हो सकते थे; और चूँकि आघात मानहानि अथवा हानि पहुँचाने की भावना है, न कि पहुँचायी गयी क्षति, इसलिए जो मनुष्य अपना न तो मूल्य आंकते थे न दूसरों से अपनी तुलना करते थे, जब उन्हें सहूलियत होती एक दूसरे के प्रति बिना किसी आघात की भावना का अनुभव किये, हिंसा करते फिरते थे। संक्षेप में, प्रत्येक मानव अपने बन्धुओं को उसी भाँति देखता था जिस भाँति कि वह दूसरी प्रजाति के जन्तुओं को। या तो दुर्बल का शिकार हड़प लेता या अपना भाग शक्तिशाली के लिए त्याग देता, और तनिक सी उद्वेगता अथवा ईर्ष्या की भावना के बिना, अथवा अपनी सफलता-असफलता पर हर्ष-विषाद की अनुभूति के अतिरिक्त और किसी भावना के बिना इन हिंसात्मक क्रियाओं को स्वाभाविक घटनाएँ ही समझता था।

तीव्र निन्दक द्वारा भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मैं अनुकम्पा के विषय में कह रहा हूँ। यह ऐसा स्वभाव है जो हम लोगों—जैसे दुर्बल तथा दोषों के अधीन प्राणियों के लिए उपयुक्त है; यह मानव जाति के लिए इतना हितकर एवं इतना अधिक व्यापक है कि वह किसी भी प्रकार के विचार से पूर्व आता है और साथ ही साथ इतना स्वाभाविक है कि जंगली पशु तक अपने आप कभी-कभी इसका स्पष्ट प्रमाण देते हैं। माताओं की अपनी संतान के प्रति कोमल भावनाओं तथा उनको अनिष्ट से बचाने के लिए स्वयं संकट का सामना करने की चर्चा न करें तो भी यह सर्वप्रसिद्ध है कि अश्व भी जीवित शरीरों को कुचल कर निकल जाने में अन्यमनस्कता दिखाते हैं। कोई भी जन्तु कभी अपनी प्रजाति के जीव के शव के पास से नहीं निकल सकता; कुछ ऐसे भी होते हैं जो उसे एक प्रकार से दफना देते हैं, यहाँ तक कि कसाईबाड़े में प्रवेश करने पर जानवरों की दुःखमरी आवाजें उस प्रभाव को प्रकट करती हैं जो सम्मुख के भयानक दृश्य को देखकर उन पर पड़ता है।

हमें यह जानकर प्रसन्नता होती है कि मधुमक्खी वाली कथा का लेखक यह मानता है कि मानव एक दयावान और विवेकी प्राणी है और उसकी शैली की नीरस गंभीरता को छोड़ दें तो जो उदाहरण वह देता है उनमें वह उस मनुष्य का कर्ण-जनक वर्णन हमारे सम्मुख रखता है जो अपने कारावास के स्थान से यह दृश्य देखने को विवश किया जाता है कि एक माता की गोद से एक जंगली जंतु उसके बच्चों को झपट ले जाता है तथा उसके कोमल अंगों को अपने प्राणघातक दाँतों द्वारा चबाने तथा अपने पंजों से उसकी फड़कती हुई अंतड़ियों को चीर रहा है। अपनी आँखों से ऐसे दृश्य को देखनेवाले दर्शक के मन में कितनी हलचल, कितनी उत्तेजना पैदा होगी यद्यपि स्वयं उसका इस घटना से कोई सम्बन्ध नहीं है। और मूर्छित होती माँ एवं मृत्यु के मुख में जाते हुए बच्चे को कोई सहायता देने में असमर्थ होने पर, कितनी चिन्ताएँ उसके हृदय को पीड़ित करेंगी !

सभी प्रकार की विचारणाओं से पूर्व का, यह है प्रकृति का विशुद्ध संवेग ! ऐसी ही है शक्ति प्राकृतिक अनुकम्पा की जिसे सदाचारों में आयी सर्वाधिक भ्रष्टता भी अभी तक विनष्ट नहीं कर पायी है। क्योंकि हम प्रतिदिन अपनी अभिनय-शालाओं में ऐसे व्यक्तियों को प्रभावित देखते हैं, नहीं, नहीं, एक दुखी की पीड़ाओं पर आँसू बहाते पाते हैं जो यदि स्वयं निरंकुश शासक के स्थान पर होता तो अपने शत्रुओं के क्लेशों में संभवतः वृद्धि ही करता। बिल्कुल रक्त के प्यासे सल्ला (Sulla) की भाँति, जो उन बुराइयों के प्रति संवेदनशील था जिन्हें उसने उत्पन्न

नहीं किया था अथवा फेरोस के सिकन्दर की मांति जो इस भय से किसी दुःखान्त नाटक का अभिनय देखने का साहस नहीं कर सकता था, कि उसे अन्दरोमेशी (Andromachi) और प्रियम (Priam) के साथ रुदन करते कोई देख लेगा, यद्यपि वह स्वयं उन समस्त नागरिकों के चीत्कार को जो उसकी आज्ञा से प्रतिदिन मौत के घाट उतारे जाते थे, बिना किसी संवेग के सुन सकता था:—

Mollissima Corda

Humano generi dare se natura fatetur,

Oua lacrimas dedit.

Juvenal, Satire XV, 151

अर्थात्

“प्रकृति स्वीकार करती है कि उसने मानव जाति को कोमलतम हृदय दिये थे परन्तु मानव जाति ने उसे आँसू दिये।”

[जूवेनाल : सेटायर—१५-१५१]

मेंडेविले (Mandevilla) भलीभाँति जानता था कि अपनी समस्त नैतिकता के साथ भी मनुष्य कभी दैत्यों से उत्तम नहीं हो सकते थे—यदि प्रकृति उनके विवेक में सहायता देने के लिए उन्हें अनुकंपा की भावना प्रदान न करती। परन्तु वह यह नहीं जान पाया था कि केवल इसी गुण से वे समस्त सामाजिक गुण उत्पन्न होते हैं जिनके मनुष्य में होने को उसने अस्वीकार किया। परन्तु उदारता, क्षमाशीलता, अथवा मानवता दुर्बल के प्रति, अपराधी के प्रति अथवा साधारण मानव के प्रति अनुकंपा की भावना के अतिरिक्त और क्या है? यदि हम सही तरीके पर देखें तो मित्रता एवं परोपकार भी केवल अनुकंपा भावना के परिणाम मात्र हैं जो अनवरत रूप से एक विशेष प्रयोजन की ओर केन्द्रित है क्योंकि दूसरा मनुष्य कष्ट और अशान्ति न अनुभव करे और हम उसके सुख की कामना करते रहें यह भावना उसके सिवा और क्या हो सकती है? यदि यह सत्य भी होता कि दया एक भावना से अधिक और कुछ भी नहीं है जो हमें कष्ट सहन करनेवाले के स्थान में रख देती है; एक भावना जो बर्बर में गुप्त होते हुए भी स्फूर्तिमान और सभ्य मनुष्य में विकसित होते हुए भी दुर्बल होती है, तो इस सत्य से मेरे तर्क का अनुमोदन होने के अतिरिक्त और कोई परिणाम नहीं निकलेगा। जितना ही एक प्राणी अपने आपको कष्ट सहन करनेवाले व्यक्ति से अभिन्न समझेगा वास्तव

में अनुकम्पा की भावना उतनी ही अधिक बलवती होगी। अब यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की अभिन्नता प्राकृतिक अवस्था में तार्किक अवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक पूर्णरूप में रही होगी। यह तर्क है जो आत्मसम्मान का सृजन करता है और गहन विचार उसकी पुष्टि करता है। यह तर्क ही है जो अपने ही मनुष्य का मन अपनी ही ओर फेर देता है, और उसे उस प्रत्येक ऐसी वस्तु से विलग कर देता है जो उसकी शांति भंग कर सकती अथवा उसे कष्ट दे सकती है। यह दर्शन-शास्त्र ही है जो उसे एकाकी कर देता है और दूसरों के अभागेपन के दृश्य पर यह कहने के लिए बाध्य करता है कि—“तुम चाहो तो नष्ट हो जाओ, मैं तो सुरक्षित हूँ।” जो समस्त समुदाय के लिए खतरा है, उस सामान्य अनिष्टों के अतिरिक्त कोई ऐसी चीज नहीं है जो दार्शनिक की शांति निन्द्रा को भंग कर सके अथवा उसे शय्या से उठने को विवश करे। उसकी खिड़की के नीचे भले ही बिना किसी रोक-टोक के खून हो जाय, उसे तो केवल कानों में उँगली डाल लेनी है। उस प्रकृति को टालने के लिए जो उसके अन्तर में अपने को उस अभागे कष्टभोगी के साथ अभिन्न होने को तड़पती है, वह केवल अपने आपसे थोड़ा सा तर्क कर लेता है। असभ्य मनुष्यों में यह प्रशंसनीय प्रतिभा नहीं होती, और वे तर्क एवं विवेक की कमी के कारण, मानवता की प्रथम प्रेरणा का मूर्खता से पालन करने को उद्यत रहते हैं। यह जनसमुदाय ही है जो उपद्रवों और सड़कों के झगड़ों में एक स्थान पर एकत्र हो जाता है जबकि विद्वान् मनुष्य चतुराई से भाग निकलता है। यह जनसमुदाय ही है और बाजार में क्रय-विक्रय करनेवाली स्त्रियाँ ही हैं जो झगड़ने वालों को पृथक् कर देती हैं और उदारजनों को एक दूसरे का गला काट लेने से रोकती हैं।

तब यह निश्चित है कि अनुकम्पा की भावना एक प्राकृतिक भावना है जो प्रत्येक मनुष्य में स्वार्थ-प्रेम की तीव्रता को कोमल बनाकर समस्त प्रजाति की रक्षा में योग देती है। यही वह अनुकम्पा है जो हमें बिना सोच-विचार के उनके बचाव के लिए प्रेरित करती है जो कष्ट में हैं। यही वह शक्ति है जो प्राकृतिक अवस्था में विधि (कानून), सदाचरण और सद्गुणों के स्थान की पूर्ति करती है। इस लाभ के साथ कि कोई उसकी मधुर वाणी की अवज्ञा करने की चेष्टा नहीं करता, यही है वह जो सदैव एक बलवान् बर्बर को दुर्बल बालक या बलहीन वृद्ध मनुष्य से उस भोजन सामग्री का अपहरण करने से रोकती है जो उसने कष्ट एवं कठिनाई सहन करके उपार्जित की है। यही है जो बुद्धिसंगत न्याय के मव्य नीति वाक्य “दूसरों के

लिए वंसा ही करो जैसा कि अपने प्रति दूसरों से आशा करते हो”, को ग्रहण करने के स्थान पर एक अन्य स्वाभाविक भलाई के नीति वाक्य “दूसरों का कम से कम अरकार करते हुए अपनी भलाई करो” के प्रति समस्त मनुष्यों को प्रेरित करता है; जो अधिक अपूर्ण होते हुए भी अधिक उपयोगी है। संक्षेप में हम गम्भीर तर्कों के स्थान पर स्वाभाविक मनोभावनाओं में कहीं अधिक उस विरक्ति का कारण देख पायेंगे, जो प्रत्येक मनुष्य शिक्षा के नीति-वाक्यों से स्वतंत्र होकर भी बुरा कार्य करने में अनुभव करता है। यद्यपि तर्क द्वारा सद्गुणों की प्राप्ति करना सुकरात (Socrates) तथा अन्य समान कौशलपूर्ण मस्तिष्क वालों से ही संबंधित है, तथापि मानव जाति का अस्तित्व कमी का नष्ट हो गया होता, यदि उसका संरक्षण उन व्यक्तियों के तर्कों पर निर्भर होता जो उसके अंग थे।

जब भावावेग (पैशन) इतने कम सक्रिय थे और प्रतिबन्ध इतने अच्छे कि मनुष्य दुष्ट होने के स्थान पर उच्छृंखल अधिक था और दूसरों के प्रति दुष्टता करने की अपेक्षा अन्य की दुष्टता से अपनी रक्षा करने के लिए अधिक उत्सुक था, तब स्वभावतः वह किसी भी भाँति विपद्जनक विवादों के पचड़े में नहीं था। उन्होंने एक दूसरे से किसी प्रकार का अन्तःसम्पर्क नहीं रखा और फलस्वरूप वे अभिमान, सम्मान, श्रद्धा और तिरस्कार से अपरिचित थे। उन्हें मेरे-तेरे का लेशमात्र भी विचार नहीं था और न न्याय का सही ज्ञान था। उनके ऊपर जो भी हिंसात्मक प्रहार होता उसे वे एक प्रकार की ऐसी चोट समझते थे जिसकी सरलता से चिकित्सा हो सके, न कि उसे एक अपराध के रूप में, जिसके लिए दण्ड दिया जा सके, लेते थे। वे कभी बदला देने की नहीं सोचते थे, जब तक कि संभवतः यंत्र की भाँति और घटनास्थल पर ही उनमें ठीक वैसी ही प्रतिक्रिया न हो, जिस प्रकार कभी-कभी श्वान उसी पत्थर को काट लेता है जिससे उस पर प्रहार किया गया हो। इसलिए उनके विवादों के परिणाम शायद ही कभी अधिक रक्तरंजित होते थे, क्योंकि उनका प्रधान विषय केवल जीविका का प्रश्न होता था। परन्तु मुझे एक कही अधिक बड़े खतरे का पता है जिस पर विचार करना अभी शेष है।

जो भावावेग मनुष्य के हृदय में उथल-पुथल पैदा करते हैं उनमें से एक ऐसा है जो नर व मादा दोनों को एक दूसरे के लिए आवश्यक बनाता है और जो अत्यन्त प्रचण्ड एवं उग्र है, एक ऐसा भयानक भावावेग जो संकटों को झेलता है, समस्त विघ्नों को विजित कर लेता है और अपने ताण्डव में मानव जाति के विनाश की योजना बनाता प्रतीत होता है जबकि वास्तव में वह मानव की रक्षा के लिए

निर्दिष्ट है। उन मनुष्यों का क्या होगा जो इस क्रूर और असीमित क्रोध के वश छोड़ दिये गये हैं जो बिना किसी विनम्रता के, बिना किसी लज्जा के प्रतिदिन अपने अमूल्य रक्त की कीमत पर अपने अवैध प्रणय का अनुसरण करते हैं।

सर्वप्रथम यह स्वीकार करना होगा कि भावावेग जितना ही अधिक तीव्र होते हैं, उन्हें प्रतिबन्धित रखने के निमित्त उतने ही नियमों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु यदि इस लक्ष्य को कार्यान्वित करने में नियमों की उस अपर्याप्तता को पृथक् कर दिया जाय जो होनेवाले तत्सम्बन्धी अपराधों एवं अव्यवस्थाओं से प्रमाणित है तो हम उचित ही यह प्रश्न पूछेंगे कि क्या ये दोष भी स्वयं नियमों के साथ ही उत्पन्न नहीं हुए थे? यदि कानून में ऐसी बुराइयों का दमन करने की क्षमता होती तो भी उनसे कम से कम इतनी तो आशा की जाती है कि वे ऐसे अनिष्ट को रोकें जो उनके बिना उत्पन्न ही नहीं हो सकता था।

आइए, प्रेम की भावना के भौतिक और नैतिक अवयवों में जो भिन्नता है उसे समझने से आरम्भ करें। प्रेम का भौतिक अंश वह सामान्य इच्छा है जो नर तथा मादा को एक दूसरे से मिलन की ओर प्रेरित करती है। नैतिक भाग वह है जो उस इच्छा को निश्चित करता और केवल एक विशेष लक्ष्य पर केन्द्रित करता है अथवा कम से कम इस प्रकार चयन किये हुए लक्ष्य के प्रति अधिक मात्रा में स्फूर्ति देता है। यह देखना सरल है कि प्रेम का नैतिक भाग एक कृत्रिम भावना है जो सामाजिक प्रथाओं द्वारा उत्पन्न हुई है और बड़ी सावधानी एवं चतुराई के साथ स्त्रियों द्वारा अपना आधिपत्य स्थापित करने और उस वर्ग को सत्तारूढ़ करने के लिए बढ़ायी गयी है जिसे आज्ञापालक होना चाहिए। सौन्दर्य एवं गुणों की ऐसी विशेष धारणाओं पर आधारित होने के कारण जिनको प्राप्त करने की परिस्थिति में बर्बर नहीं है, तथा ऐसी तुलना पर आधारित होने के कारण जिसको करने में बर्बर अक्षम है, यह भाव बर्बर के लिए लगभग अस्तित्वहीन है क्योंकि जैसे उसका मस्तिष्क अनुपात एवं नियमितता के भावात्मक एवं अमूर्त विचारों को ग्रहण नहीं कर सकता वैसे ही उसका हृदय प्रेम और प्रशंसा की भावनाओं के प्रति जो और भी उन विचारों के प्रयोग द्वारा अनजाने उत्पन्न होती हैं, भावुक नहीं है। वह केवल उस चरित्र का पालन करता है जो प्रकृति ने उसमें बो दिया है, न कि उन रुचियों का जो कभी उपार्जित नहीं कर सकता। इसलिए प्रत्येक स्त्री समान रूप से उसके लक्ष्य की पूर्ति कर सकती है।

प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य के केवल प्रेम के भौतिक अंश तक ही सीमित रहने,

और सीमाग्यवश उन विशिष्टताओं से अनभिज्ञ रहने के कारण, जो क्षुधा को तीव्र तो करती हैं परन्तु उसे तृप्त करने की कठिनाइयों को और बढ़ा देती हैं, वह मनो-वेगों के अपेक्षाकृत थोड़े एवं कम तीव्र आवेशों के अधीन रहते हैं और फलस्वरूप कम एवं न्यूनतम तीव्र विवादों में फँसते हैं। जो कल्पना हमारे बीच इतने उपद्रव उत्पन्न करती है, उन बर्बरों के हृदय को कभी सम्बोधित नहीं करती, जो शांति से प्रकृति की प्रेरणाओं की प्रतीक्षा करते हैं और उत्साह की अपेक्षा अधिक आनन्द के साथ अनजाने ही समर्पण करते हैं और अपनी आवश्यकताएँ एक बार संतुष्ट होने के पश्चात् वह इच्छा खो बैठते हैं। अस्तु, यह निर्विवाद है कि प्रेम और अन्य सभी भावावेग समाज में उस प्रज्वलित तीव्रता को उपार्जित कर लेते हैं जो उसे प्रायः मानव जाति के लिए प्राणलेवा बना देती है। बर्बर को सदैव अपनी क्रूरता दर्शाने के लिए एक दूसरे का गला काटते हुए दिखाना और भी अधिक असंगत होगा क्योंकि यह सम्मति अनुभव के त्रिकुल विपरीत है। कैरिब्रियन, जो अभी तक प्राकृतिक अवस्था से बहुत ही कम विचलित हुए हैं, अपनी प्रणय-क्रीड़ाओं में वास्तव में सबसे शांत मानव होते हैं तथा ईर्ष्या के सबसे कम अधीन रहते हैं, यद्यपि वे उष्ण जलवायु में रहते हैं जो सदैव कामोन्माद को प्रज्वलित करता प्रतीत होता है।

पशुओं की विभिन्न प्रजातियों के सम्बन्ध में, जिनके नर हमारी मुर्गी आदि पालने के स्थानों को हत्या एवं रक्तपात से या तो भर देते हैं अथवा वसन्त ऋतु में अपनी मादाओं पर झगड़ते हुए जंगलों को गुजायमान कर देते हैं, जो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं (उनमें) हमें उन प्रजातियों को पृथक् करके श्रीगणेश करना चाहिए, जिनमें प्रकृति ने नर व मादा की तुलनात्मक शक्ति का उससे भिन्न आधार दिया है जो हम लोगों में वर्तमान हैं। ऐसी दशा में लड़ाकू मुर्गी के स्वभाव के आधार पर हम मानव सम्बन्धी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। इस प्रकार की लड़ाइयाँ निश्चित ही केवल मादाओं की संख्या नरों की अपेक्षा न्यून होने के कारण ही होंगी अथवा उन मध्यान्तरों के कारण होंगी जिनमें मादा नर की छेड़छाड़ के प्रति अनवरत रूप से अरुचि दिखाती है क्योंकि यदि प्रत्येक मादा एक वर्ष में केवल दो महीने नर को स्वीकार करती है तो इसका आशय होगा कि मानों मादाओं की संख्या नरों से पाँच बटा छः कम है। मानव जाति के विषय में इन दोनों उदाहरणों में से कोई भी लागू नहीं है क्योंकि उनमें स्त्री वर्ग की संख्या साधारणतया पुरुष वर्ग से अधिक होती है तथा उनमें और बर्बरों में भी, कभी यह देखा नहीं गया कि स्त्री वर्ग का अन्य पशुओं की भाँति अपनी सम्भोग-इच्छा

तथा अरुचि के लिए निश्चित अवधियाँ हों। इसके अतिरिक्त उन प्रजातियों में से कुछ में सभी व्यक्ति सहसा उत्तेजित हो जाते हैं और फलस्वरूप उनमें एक असीमित सम्भोग-इच्छा, हलचल और अशांति का डरावना काल एक साथ आ जाता है। मानव जाति में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा गया क्योंकि उनका प्रेम इस प्रकार कभी ऋतुकालीन नहीं रहा है। अस्तु, पशुओं के इस प्रकार स्त्री वर्ग से सम्भोग करने के निमित्त हुए मल्ल युद्धों से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि प्राकृतिक अवस्था में मानव की भी ऐसी ही स्थिति रही होगी। और यदि हम ऐसा निष्कर्ष निकालें भी, तो हम देखते हैं कि इस प्रकार के झगड़ों से उस जाति के पशुओं का संहार नहीं हो जाता और हमारे पास कोई ऐसा कारण यह निष्कर्ष निकालने के लिए नहीं है कि यह हमारे लिए अधिक प्राणलेवा होगा। वास्तव में यह स्पष्ट है कि वे उससे तो कम ही दुष्टता कर पायेंगे जितना लोग समाज के बीच रहने की अवस्था में कर पाते हैं। विशेषतः उन देशों में जहाँ नैतिक सदाचार का अभी तक कुछ सम्मान है, प्रेमियों की ईर्ष्या और पतियों की प्रतिहिंसा, प्रतिदिन ही द्वन्द्व युद्धों, हत्याओं और इससे भी निष्कृष्ट अपराधों का कारण बनती है; जहाँ चिर-कालीन निष्ठा, केवल व्यभिचार की प्रेरणा बनती है और मान-मर्यादा एवं इन्द्रिय-संयम के नियम अनिवार्य रूप से अत्यधिक कामुकता बढ़ाते हैं और गर्भपात की बहुलता के कारण बनते हैं।

तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राकृतिक अवस्था में मानव, जंगलों में इधर उधर भटकते हुए, बिना उद्योग के, बिना वाणी के, बिना घरबार के, युद्ध तथा समस्त सम्बन्धों के प्रति समान रूप से अपरिचित होकर भी न तो अपने सहचर प्राणियों की आवश्यकता का अनुभव करता था और न ही उन्हें हानि पहुँचाने की इच्छा रखता था, यहाँ तक कि शायद एक दूसरे में कोई भेद भी नहीं कर सकता था। तो हम यह निष्कर्ष निकालें कि स्वावलम्बी तथा बहुत कम मनोवेगों के अधीन, होने के कारण, उसमें कोई ऐसी भावनाएँ या ज्ञान नहीं होता था जो उसकी स्थिति के अनुकूल न हों; और यह भी कि वह केवल अपनी वास्तविक आवश्यकताओं का अनुभव और उन सभी वस्तुओं की अवहेलना करता था जिन्हें वह तुरन्त अपने से सम्बन्धित नहीं समझता था और उसके अवबोध ने उसके अहं से अधिक उन्नति नहीं की। यदि किसी संयोगवश उसने कोई अनुसंधान किया भी तो वह उसे दूसरों तक पहुँचाने में विशेष समर्थ नहीं था क्योंकि उसे तो अपनी सन्तान का भी पता नहीं रहता था। चूँकि मनुष्यों में किसी प्रकार की शिक्षा नहीं थी प्रत्येक

कला अपने आविष्कार के साथ ही लुप्त हो जाती थी। पीढ़ी के बाद पीढ़ी बिना किसी उन्नति के आती चली गयी; प्रत्येक उसी विन्दु से आरम्भ करता था। अब आरम्भिक युग की उस बर्बर अवस्था में शतियाँ बीत गयी होंगी। मानव जाति वृद्ध हो गयी परन्तु मानव बालक ही रह गया।

इस काल्पनिक आदिम अवस्था का यदि मैंने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है तो इसका कारण यह है कि मुझे बहुत-सी परम्परागत त्रुटियों एवं पुराने पूर्व संस्कारों का उन्मूलन करना था। इसीलिए मैंने यह उचित समझा कि मैं उनके मूल स्रोत का अनुसंधान करूँ और प्राकृतिक अवस्था की वास्तविक छवि द्वारा दिखलाऊँ कि मानव जाति की नैसर्गिक असमानताएँ भी कहाँ तक उस वास्तविकता एवं प्रभाव से दूर हैं जिसको आधुनिक लेखकगण मान लेते हैं।

वास्तव में यह देखना आसान है कि बहुत सी भिन्नताएँ जो मनुष्यों को एक दूसरे से पृथक् करती हैं, केवल जीवन की उन आदतों तथा विभिन्न जीवन-क्रमों का फल हैं जिन्हें मनुष्य समाज में अपनाता है। इसलिए एक हृष्ट-गुष्ट अथवा एक कोमल गठन और उससे सम्बद्ध शक्ति या दुर्बलता अधिकांश में एक कठोर या फिर स्त्रैण शिक्षा-प्रणाली का फल है न कि शरीर की नैसर्गिक सम्पत्ति। मन की शक्तियों के बारे में भी यही बात है क्योंकि शिक्षा न केवल शिष्ट और अशिष्ट में भिन्नता उत्पन्न करती है वरन् प्रथम अर्थात् शिष्ट में उस भिन्नता की उनकी संस्कृति के अनुपात से उसी प्रकार वृद्धि भी कर देती है जिस प्रकार एक बौने एवं मीमकाय मनुष्य के बीच जो दूरी होती है वह जैसे जैसे वे मार्ग पर प्रत्येक पग बढ़ाते हैं, बढ़ती जाती है। यदि हम सामाजिक अवस्था में रहनेवाले मानवों के विभिन्न वर्गों की जीवन-प्रणाली एवं शिक्षा में पायी जानेवाली विशाल भिन्नताओं की तुलना पशुओं एवं बर्बरों के जीवन की सरलता एवं एकरूपता से करें जिसमें प्रत्येक एक ही प्रकार के आहार पर तथा एक ही ढंग से रहता है और एक ही क्रियाओं को सम्पन्न करता है, तो इसे ध्यान में लाना सरल हो जायगा कि प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाले मनुष्य मनुष्य के बीच सामाजिक अवस्था में रहनेवाले मनुष्यों की अपेक्षा कितना कम अन्तर रहा होगा और किस प्रकार मानव जाति की नैसर्गिक असमानताएँ सामाजिक संस्थाओं की असमानताओं-द्वारा कितनी ज्यादा बढ़ गयी होंगी।

परन्तु यदि मान लें कि प्रकृति ने वास्तव में अपने उपहारों के वितरण में पक्षपात किया, जैसा आरोप उस पर लगाया जाता है, तो उसके सर्वप्रिय कृपापात्र

उससे क्या लाभ उठा लेंगे या उससे दूसरों को क्या हानि होगी; जबकि वे ऐसी स्थिति में हैं जहाँ उनमें किसी प्रकार का पारस्परिक सम्बन्ध ही नहीं है? जहाँ प्रेम नहीं है वहाँ सुन्दरता से क्या लाभ? जो वार्तालाप ही नहीं करते उनके लिए बुद्धि-विलास या हाजिरजवाबी का क्या उपयोग है? अथवा उन्हें चालाकी से क्या जो अन्य मनुष्यों से व्यवहार ही नहीं रखते? मैं अनवरत रूप से यह दोहराते हुए सुनता हूँ कि उस अवस्था में शक्तिशाली दुर्बल को सतायेगा; परन्तु यहाँ सताये जाने से क्या तात्पर्य है? यह कहा जाता है कि कुछ लोग दूसरों पर प्रचण्डता व क्रूरता से शासन करेंगे और शासित उनकी लंपटता के नीचे आधिपत्य में कराहा करेंगे। यह ठीक वही दशा है जो मैं अपने लोगों के बीच देखता हूँ। परन्तु मैं यह नहीं समझ पाता कि प्राकृतिक अवस्था के मानव के विषय में यह निष्कर्ष कैसे निकाल सकते हैं जिन्हें यह समझाना भी कठिन है कि प्रभुत्व एवं दासत्व से हमारा क्या तात्पर्य है? यह सम्भव है कि कोई मानव उन फलों का अपहरण कर ले जो दूसरे ने एकत्र किये हों, या ऐसा शिकार ले ले जो दूसरे ने मारा हो, अथवा ऐसी कन्दरा छीन ले जो दूसरे ने आश्रय हेतु छाँटी हो। परन्तु वह किस भाँति सदैव दूसरों से आज्ञाकारिता प्राप्त कर सकता है और बिना सम्पत्ति के मानवों के मध्य निर्भरता के सम्बन्ध ही किस प्रकार हो सकते हैं? उदाहरणार्थ, यदि मैं एक वृक्ष पर से भगा दिया जाऊँ तो मैं दूसरे पर जा सकता हूँ, यदि मैं एक स्थान से विरक्त किया जाता हूँ तो दूसरे पर जाने से कौन रोक सकता है? इसके अतिरिक्त यदि मुझे ऐसे मनुष्य से मिलने का अवसर मिले जो मुझसे अधिक शक्तिशाली हो और साथ ही साथ इतना बर्बर, इतना निरुद्योगी, इतना कलुषित कि मुझे ही अपनी आजीविका निर्वाह करने के लिए बाध्य करे और स्वयं निरुद्योगी रहे तो उसे इस बात की चिंता करनी होगी कि मैं उसकी दृष्टि से क्षणभर के लिए भी ओझल न होऊँ, निद्रा की गोद में जाने के पहले वह मुझे अच्छी तरह बाँध देगा अन्यथा निश्चय ही मैं उसका सिर तोड़ दूँगा अथवा स्वयं भाग निकलूँगा। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी स्थिति में वह उससे कहीं बड़े संकट में पड़ जायगा जिसे वह दूर रखना या मेरे ऊपर लादना चाहता है। इन सबके अतिरिक्त यदि वह तनिक भी चौकसी में चूक जायगा अथवा किसी भी आकस्मिक खटके पर तनिक भी अपना सिर घुमायेगा तो मैं तुरन्त ही बीस पग भाग निकलूँगा; वन में विलुप्त हो जाऊँगा, और मेरी बेड़ियाँ टूटकर गिर जायेंगी और वह मुझे फिर कभी नहीं देख पायेगा।

इन बातों पर मेरे निरर्थक विस्तृत वर्णन के बिना ही प्रत्येक मानव को देख

लेना चाहिए कि दासता के बन्धन केवल मानव की पारस्परिक निर्भरता और उन्हे एकता के सूत्र में बाँधनेवाली उन पारस्परिक आवश्यकताओं से निर्मित होते हैं, इसलिए जब तक कि मनुष्य स्वयं पहिले ऐसी स्थिति में न हो जाय जिसमें दूसरे की सहायता के बिना निर्वाह होना कठिन हो, किसी भी मनुष्य को दास बनाना असम्भव है। चूँकि प्राकृतिक अवस्था में ऐसी परिस्थिति विद्यमान नहीं रहती प्रत्येक व्यक्ति स्वतः स्वामी होता है और सबसे शक्तिमान वाला नियम वहाँ प्रभावहीन हो जाता है।

यह प्रमाणित करने के पश्चात् कि प्राकृतिक अवस्था में मानव जाति की असमानता कठिनाई से अनुभव की जा सकती है, और उसका प्रभाव प्रायः नहीं के बराबर होता है, मैं अब उसके उद्गम को दिखाऊँगा, और मानव मन के क्रमागत विकास में उसकी प्रगति चित्रित करूँगा। यह दिखाने के बाद कि मानवी परिपूर्णता, सामाजिक गुण तथा अन्य शक्तियाँ जो प्राकृतिक मानव में प्रच्छन्नावस्था में थीं स्वतः विकसित नहीं हो सकती; उन्हें ऐसे अनेक बाह्य उपकरणों की अनुकूलता की आवश्यकता पड़ती है जो हो सकता है कि कभी उत्पन्न न हों, पर जिनके बिना वह सदैव आदिम अवस्था में ही रह जायगा, अब मैं ऐसी विभिन्न घटनाओं का संकलन और विवेचन करूँगा जिन्होंने मानवी अवबोध को उन्नत कर प्रजाति को कलुषित किया हो और सामाजिक बनाने के साथ-साथ मनुष्य को दुष्ट भी बनाया हो जिससे कि मनुष्य और संसार को दूरस्थ काल से आज जो स्थिति हम देख रहे हैं उसमें लाया जा सका हो।

मैं स्वीकार करता हूँ कि जिन घटनाओं का मैं वर्णन करने जा रहा हूँ, वे विभिन्न तरीकों से घटित हुई होंगी और मेरे सम्मुख अपने चुनाव के निर्णय के लिए अनुमानों के अतिरिक्त दूसरा कोई साधन नहीं। परन्तु इस प्रकार के अनुमान ही उस स्थिति में तर्क बन जाते हैं जब पदार्थों की नैसर्गिकता के आधार पर उनके होने की अधिक संभावना हो और वे सत्य की खोज के लिए एकमात्र साधन हों। किन्तु मैं जो निष्कर्ष निकालना चाहता हूँ वे नितान्त अनुमानित भी नहीं होंगे क्योंकि अभी जो सिद्धान्त निरूपित किये गये हैं, उन पर कोई भी दूसरी धारणा बनाना असम्भव होगा जो वही परिणाम न प्रदान कर सके और जिससे मैं वही निष्कर्ष न निकाल पाऊँ।

यह मेरे लिए पर्याप्त क्षमा याचना है, यदि मैं उस प्रणाली का निरूपण न कर पाऊँ जिसमें जो समय जाता है वह उन घटनाओं की अल्प संभवनीयता की क्षति-

पूर्ति कर देता है। जैसे—नगण्य कारणों की आश्चर्यजनक शक्ति का, जबकि उनकी क्रिया निरन्तर होती रहती है या एक ओर कुछ उप-कल्पनाओं को विनष्ट करने की असंभवता, जबकि दूसरी ओर उन्हें ज्ञात पदार्थों की निश्चितता भी नहीं दी जा सकती। इतिहास की सीमा में होने पर जब दो तथ्य वास्तविक तथ्यों के रूप में दिये गये हों, और उन्हें ऐसे मध्यवर्ती तथ्यों के क्रम द्वारा सम्बद्ध करना हो जो अज्ञात हों अथवा अज्ञात समझे जाते हों, और जब इतिहास के मौन होने पर उसी लक्ष्य की पूर्ति के हित समान तथ्यों का निर्णय करने में वह दर्शन के क्षेत्र में पहुँच जाय; अन्त में अनुरूपता के प्रभाव की बात रह जाती है तो जहाँ तक घटनाओं का सम्बन्ध है, तथ्यों को विभिन्न वर्गों वाली उससे कहीं अत्यल्प संख्या में परिवर्तित कर देती है जितना लोग सामान्यतः समझते हैं। मेरे लिए निर्णायकों के विचारार्थ यह संकेत प्रस्तुत करना और उनको इस प्रकार से क्रमबद्ध उपस्थित करना कि सामान्य पाठक को उन पर विचार करने की आवश्यकता ही न रह जाय, पर्याप्त होगा।

वार्ता का द्वितीय भाग

सर्वप्रथम जिस मनुष्य ने एक भूमि-खण्ड की सीमा निर्धारित (हृदबन्दी) करके यह विचार कि “यह मेरा है” और जन-साधारण को मरलता में उस अधिकार को स्वीकार करते हुए पाया, वही सिविल समाज का वास्तविक प्रतिष्ठापक था।

यदि किसी ने आगे आकर या खाई को पाट कर अपने सहचरों से चिल्लाकर कह दिया होता कि “इस विश्वासघाती (बहुरूपिए) की बातों से सतर्क रहना; यदि तुम एक बार भी यह भूल गये कि पृथ्वी की उपज सभी के निमित्त है और स्वयं पृथ्वी किसी की नहीं, तो तुम्हारा सर्वनाश हो जायगा तो उसने मानव जाति को कितने ही अपराधों में, युद्धों व हत्याओं से, कितनी भयानक एवं दुर्भाग्यपूर्ण आपदाओं से बचा लिया होता। परन्तु जान पड़ता है कि संभवतः वाते इस सीमा पर पहुँच गयी थी कि वे वर्तमान स्थिति में उसी भाँति बनी नहीं रह सकती थी जैसी कि वे अभी तक थी क्योंकि सम्पत्ति का विचार अनेक पूर्वकल्पित धारणाओं पर निर्भर करता है, जो क्रमानुसार ही उपार्जित की जा सकती थी और मानव मस्तिष्क में सहसा ही सृजित नहीं हो सकती थी। प्राकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण तक पहुँचने के पूर्व मानव जाति ने अत्यधिक मात्रा में उन्नति की होगी और पर्याप्त ज्ञान एवं उद्योग उपार्जित किया होगा तथा युगानुयुग में उसे प्रसारित और परिवर्द्धित भी किया होगा। ऐसी दशा में हमें ओर पीछे लौटना चाहिए, और एक ही दृष्टिकोण के अन्तर्गत घटनाओं के मन्दगति वाले क्रम और प्रयत्न को प्राकृतिक अवस्था में आधिष्ठातृ से सम्बद्ध करने का प्रयास करना चाहिए।

मानव की प्रथम भावना अपने अस्तित्व की और सर्वप्रथम चिन्ता व्यक्तिगत रक्षा की थी। पृथिवी की उपज ने उसके सम्मुख वह सब प्रस्तुत कर दिया जो उसके लिए आवश्यक था और सहजवृत्ति ने उसे बताया कि उनका उपयोग कैसे किया जा सकता है। भस्व तथा अन्य क्षुधाओं ने अनेक अवसरों पर जीवन की विभिन्न दशाओं का अनुभव कराया। इनमें से एक वह भी थी जिसने अपनी

प्रजाति को परिवर्द्धित करने के लिए उत्साहित किया—एक अन्ध प्रवृत्ति, जिसका हृदय से कोई सम्बन्ध नहीं था, और जिसने केवल एक पशुक्रिया को जन्म दिया। एक बार की इच्छा की पूर्ति के पश्चात् नर व मादा दोनों एक दूसरे को भूल जाते और माता के लिए भी बच्चे स्वतंत्र रूप से जीवित रहने के योग्य होते ही नगण्य हो जाते थे।

बाल मानव की ऐसी दशा थी। प्राणी (Animal) का जीवन सर्वप्रथम केवल चेतनाओं तक ही सीमित था। और वह कठिनाई से प्रकृति प्रदत्त उपहारों से लाभान्वित हो सकता था, प्रकृति से बलपूर्वक कोई वस्तु प्राप्त करने का तो विचार तक करने की क्षमता उसमें नहीं थी। परन्तु कठिनाइयों ने शीघ्र ही सिर उठाया, फलतः उसके लिए उन पर विजय पाने की योग्यता उपाजित करना अनिवार्य हो गया। (उदाहरणार्थ) वृक्षों की ऊँचाई ने, जो उसके फल प्राप्त करने में बाधक थी, अन्य पशुओं की उन्हीं फलों को प्राप्त करने की प्रतियोगिता ने, और उनकी भयावहता ने जो उन फलों को अपनी रक्षा के लिए चाहते थे, सभी ने उसे शारीरिक शक्तिवर्धन की ओर ध्यान देने के लिए विवश किया। इसके लिए उसे स्फूर्तिवान, द्रुतपद एवं युद्ध में ओजपूर्ण होना अनिवार्य था। सरलता से प्राकृतिक अस्त्र-शस्त्र, पत्थर और छड़ी उपलब्ध हो गये। उसने प्रकृति की रूकावटों पर विजय पाना, आवश्यकतानुसार दूसरे पशुओं से संघर्ष करना, दूसरे मानवों के साथ जीविका के साधनों के लिए भी झगड़ा करना अथवा बलवान के सम्मुख समर्पण करने के लिए बाध्य होने पर अपनी क्षतिपूर्ति करना सीख लिया।

जिस अनुपात में मानव जाति संख्या में बढ़ी, मानवी चिन्ताएँ भी उसी अनुपात में बढ़ती गयीं, भूमि, जलवायु और ऋतुओं की भिन्नता ने निश्चित ही उनकी जीवन-शैली में भिन्नताएँ उत्पन्न की होंगी। प्रयोजनहीन वर्ष, लम्बी व तीक्ष्ण शरद ऋतु, झुलसाने वाली ग्रीष्म ऋतु ने, जो पृथिवी की उपज को सुखा देती थी, निश्चय ही एक नवीन उद्योग का आरम्भ कराया होगा। समुद्रतट पर तथा नदियों के किनारे उन्होंने मछली पकड़नेवाला डंडा और कटिया आविष्कृत किया और वे मछुए तथा मत्स्य-भक्षक बन गये। वनों में उन्होंने धनुष-बाण बनाये और शिकारी तथा योद्धा बन गये। शीत प्रदेशों में उन्होंने अपने को हत पशुओं की खालों से ढकना सीखा। बिजली, ज्वालामुखी अथवा किसी सुन्दर भाग्यवान अवसर ने उन्हें अग्नि से परिचित कराया जो शरद ऋतु से रक्षा का एक नवीन साधन बन गयी। तत्पश्चात् उन्होंने इस तत्व को प्रज्वलित रखना, फिर उसे पुनः

जलाना और अन्त में उसकी सहायता से पशुओं का मांस भूनना सीखा, जिसे वे पहले कच्चा ही खा जाते थे।

अपने लिए तथा एक दूसरे के लिए विविध प्राणियों की उपादेयता स्वाभाविक रूप से मानवी मस्तिष्क में कुछ पारस्परिक सम्बन्धों के प्रत्यक्ष ज्ञान को जन्म देगी। इस प्रकार ऐसे सम्बन्धों ने, जिन्हें हम बड़े, छोटे, दुर्बल, चपल, मन्द, भयानक, साहसी, इत्यादि शब्दों से व्यक्त करते हैं, आवश्यकता के समय तुलना के लिए प्रेरित कर उसमें एक प्रकार की सोचने की शक्ति उत्पन्न की होगी अथवा एक ऐसा यान्त्रिक बोध (Mechanical prudence), उत्पन्न किया होगा जो उसे अपनी रक्षा के अत्यन्त आवश्यक बचाव-साधनों का निर्देश करता।

उपर्युक्त विकास से उसमें जो नवीन चातुर्य आया उसके कारण वह और पशुओं या प्राणियों से अपनी श्रेष्ठता का अनुभव कर श्रेष्ठ बन गया। अस्तु, अब वह उन्हें फँसाने का प्रयत्न करेगा, हजारों चालाकियाँ खेलेगा और यद्यपि बहुत से प्राणी उससे गति अथवा शक्ति में बड़े होंगे किन्तु कालान्तर में वह कुछ का स्वामी और दूसरों के लिए संकट बन जायगा। इसलिए प्रथम बार जब उसने आत्मनिरीक्षण किया तो उसमें गर्व की प्रथम भावना की अनुभूति हुई और ऐसे समय जबकि वह प्राणियों के विभिन्न वर्गों में भेदभाव भी कठिनाई से कर सकता था, अपनी प्रजाति को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसने व्यक्ति के रूप में अपनी श्रेष्ठता की कल्पना के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

यह सत्य है कि उस समय अन्य मानव उसके लिए वह नहीं थे जो कि हमारे लिए आज हैं और उसका उनके साथ अन्य जीव-जन्तुओं की अपेक्षा पारस्परिक आदान-प्रदान अधिक नहीं था। फिर भी उसके विचारों में वे उपेक्षित नहीं थे। कालान्तर में उसने उनमें और अपने तथा अपनी स्त्री में जो अनुरूपताएँ खोज निकालीं, उसके कारण वह ऐसे अन्य जीवों के विषय में निर्णय लेने की ओर अग्रसर हुआ, जिनकी अनुरूपताएँ उस समय दिखायी नहीं पड़ी थीं। और यह जानकर कि वे सब उसी भाँति व्यवहार करते हैं जिस भाँति कि वह उन्हीं परिस्थितियों में करता उसने स्वभावतः परिणाम निकाला कि उनकी विचारप्रणाली और क्रियाशीलता पूर्णतः उसके ही सदृश है। इस महत्वपूर्ण सत्य के एक बार मस्तिष्क में भली-भाँति खिच जाने पर किसी भी प्रकार के तर्क से अधिक तीव्र और निश्चित प्रेरणात्मक भावना-द्वारा ऐसे आचार-नियमों का अनुसरण करने के लिए वह बाध्य हो गया होगा। अपनी सुरक्षा एवं लाभ के

लिए ही जिनका उनके प्रति पालन करना उसने आवश्यक समझा होगा।

अनुभव ने उसे यह सिखाया कि मानवी क्रियाकलाप का एकमात्र प्रयोजन आत्म-कल्याण-प्रेम है। इसलिए उसने अपने को कुछ मामलों में इस स्थिति में पाया कि दोनों पक्षों के हित की दृष्टि से अपने कुछ साथियों पर सहायता के लिए भरोसा करे। इससे भी न्यून कुछ मामलों में जहाँ एक दूसरे के स्वार्थ टकराते थे उन पर सन्देह भी होने लगा। प्रथम स्थिति में वह उन्हीं के झुण्ड में जाकर मिल गया जिसे एक प्रकार का ढीला-ढाला संघ कहा जा सकता है और जिसमें उसके सदस्यों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं थे और न वह उस क्षणिक अवसर से अधिक समय तक चलते ही थे, जिनके लिए बनाये जाते थे। पिछली स्थिति में प्रत्येक ने अपने को पर्याप्त शक्तिशाली समझने पर बल प्रयोग से अथवा अपने को दुर्बल समझने पर घूर्तता और खुशामद से अपना व्यक्तिगत लाभ करने की चेष्टा की।

इस प्रकार मानवों ने अनजाने ही पारस्परिक उपक्रमों के कुछ ठोस विचारों को और उनको परिपूर्ण करने के लाभों को भी उपार्जित किया होगा। अर्थात् केवल वहाँ तक जहाँ तक कि उनका वर्तमान व प्रकट स्वार्थ संबंधित था, क्योंकि दूरदर्शिता से वे पूर्णतः अपरिचित थे, और दूरस्थ भविष्य के विषय में अपने को कष्ट देना न जानते थे, यहाँ तक कि कल क्या होगा यह भी नहीं सोचते थे। यदि एक मृग को प्राप्त करना था तो प्रत्येक ने उचित समझा कि सफलता प्राप्त करने के लिए, उसे अपने पद के प्रति सत्यशीलता का व्यवहार करना चाहिए। परन्तु यदि किसी की भी पहुँच की सीमा में खरगोश अकस्मात् आ जाता तो वह निःसन्देह उसे बिना संकोच के अपना लेता और अपने शिकार को बलपूर्वक हड़पने के पश्चात् तनिक भी इसकी चिंता न करता कि ऐसा करने से वह अपने मित्रों को उनके शिकार से वंचित कर रहा है।

यह समझना सरल है कि इस प्रकार के आदान-प्रदान में ऐसी भाषा की आवश्यकता नहीं थी जो उन वानरों तथा कौओं की भाषा से अधिक शिष्ट होती, जो लगभग इसी लक्ष्य से एक दूसरे का साथ करते हैं। अस्पष्ट चीत्कारें, बहुसंख्यक भाव-भंगिमाएँ और कुछ अनुकरणीय ध्वनियाँ ही लम्बेकाल तक सर्वप्रचलित भाषा रही होंगी; और प्रत्येक देश में कुछ विशिष्ट परम्परागत स्पष्ट ध्वनियों के योग से, (जिसके विषय में मैं पहले ही सूचित कर चुका हूँ कि प्रथम स्थापना का

स्पष्टीकरण सरल नहीं हैं) विशेष भाषाएं उत्पन्न हुईं। परन्तु वे वेढंगी और अपूर्ण थीं और लगभग उस प्रकार की थीं जैसी कि आजकल भी जंगली जातियों में पायी जाती हैं।

समय की तीव्र गति से शीघ्रता करने के लिए बाध्य होकर तथा उन वस्तुओं की बहुलता के कारण, जो मुझे कहनी हैं, और वस्तुओं की उनकी प्रारंभिक अवस्था में अज्ञात उन्नति-क्रम के कारण, मैं एक पल में युग-पुंजों को लांघ जाता हूँ क्योंकि अपने क्रम में घटनाएँ जितनी ही मन्दगति से आती जाती रही होंगी उतनी ही शीघ्रता से उनका वर्णन हो सकता है।

इन प्रथम प्रगतियों ने मानव को तीव्रगति से अन्य प्रकार की उन्नतियों को सम्पन्न करने योग्य बनाया। जिस अनुपात में वे उन्नत हुए वैसे ही उद्यमी भी बने। उन्होंने पहिले ही वृक्ष के नीचे अथवा सबसे पहिले आश्रय देनेवाली कन्दरा में निद्रा लेना छोड़ दिया। उन्होंने कई प्रकार के कठोर और तेज पत्थरों के औजारों को आविष्कृत किया जो वे पृथिवी को खोदने में व लकड़ी काटने में प्रयोग करते थे। तत्पश्चात् उन्होंने पेड़ों की शाखाओं की झोपड़ियाँ बनायी और अन्त में उन पर मिट्टी व कीचड़ से पलस्तर करना सीखा। यह प्रथम क्रान्ति का युग था, जिसने परिवारो की स्थापना की और उनकी अलग अलग पहिचान का बीजारोपण किया और एक प्रकार की सम्पत्ति का श्रीगणेश किया, जो स्वतः सहस्रों विवादों एवं संघर्षों का मूल कारण बन गयी। चूँकि पहिले ज्यादा बलवानों ने ही अपने वास्ते ऐसे झोपड़ियाँ बनायी जिन्हें वे अपनी समझ से सुरक्षित रख सकते थे, इसलिए यह परिणाम निकाला जा सकता है कि दुर्बलों ने उनको उनमें से हटाने की अपेक्षा उनका अनुकरण करना कहीं सरल एवं सुरक्षापूर्ण पाया और जिन्हें सर्वप्रथम झोपड़ी बनाने का अवसर मिला, उनमें किसी को भी पड़ोसी के झोपड़े को अपनाने का प्रलोभन नहीं हो सकता था; निश्चय ही इसलिए नहीं कि वह उसका नहीं था, वरन् इस कारण कि वह उसके लिए किसी मतलब का नहीं था और वह उसका, बिना किसी ऐसे परिवार से प्रचंड युद्ध किये जो पहिले से उस पर अधिकार किये हुए था, स्वामी नहीं हो सकता था।

मानवीय हृदय के प्रथम विस्तार एक नवीन परिस्थिति के परिणाम थे जिनमें पत्नियाँ और पत्नियाँ, पिताओं और संतानों को एक गृह में मिला दिया। साथ साथ रहने की परिपाटी ने शीघ्र ही मानवता की सर्वश्रेष्ठ भावनाओं का, दाम्पत्य प्रेम एवं पैतृक स्नेह का सृजन किया। प्रत्येक परिवार एक नन्हा-सा समाज बन गया। कहीं

अधिक संगठित एवं संयुक्त क्योंकि स्वतंत्रता तथा पारस्परिक लगाव ही इस मिलन की एकमात्र ग्रन्थियाँ थीं। नर व मादा, जिनके जीवन की शैली अभी तक लगभग समान थी, अब रहन-सहन के विभिन्न तरीकों को अपनाने लगे। स्त्रियाँ अधिक ठलुई हो गयीं और घर तथा बच्चों की देखभाल करने की अभ्यस्त हो चलीं। पुरुष वर्ग साधारण आजीविका निर्वाह की खोज में इधर-उधर भटकने लगा। आराम का जीवन व्यतीत करने के कारण दोनों वर्ग अपनी शक्ति तथा भयानकता का कुछ अंश खोने लगे। परन्तु यदि एक ओर व्यक्ति जंगली जानवरों का अकेले मुकाबिला करने की सामर्थ्य खोने लगे तो दूसरी ओर उन्होंने संगठित रूप से एकत्र होकर मुकाबिला करना कहीं सरल पाया।

इस नवीन स्थिति में मानव जीवन का सारल्य तथा एकान्तिकता, उसकी आवश्यकताओं की न्यूनता और उनकी सन्तुष्टि के लिए आविष्कृत यन्त्रों ने मानव को पर्याप्त अवकाश दे दिया, जिसे उसने पूर्वजों को अनुपलब्ध अनेक सुविधाओं से अपने को संपन्न करने में प्रयुक्त किया। और यह पहला जुआ था जो उसने अनिच्छा से अपने ऊपर ग्रहण किया व दोषों का प्रथम स्रोत था जो उसने अपनी संतानों के लिए प्रस्तुत किया। क्योंकि इस प्रकार शरीर एवं मस्तिष्क को शक्ति-विहीन करने के साथ ही, इन सुविधाओं ने संतुष्ट करने की अपनी समस्त क्षमता भी कालान्तर में नष्ट कर दी, यहाँ तक कि वे गिरकर यथार्थ आवश्यकताओं के रूप में आ गयी जिससे उनका अभाव अब उसे उस हर्ष से कहीं ज्यादा अरुचिकर होने लगा जो उनको अधिकार में पाकर होता था। मानव उनको खोकर दुखी हो जाते, यद्यपि उनको अधिकार में पाकर सुखी भी नहीं हो पाते थे।

अब हम कुछ ज्यादा अच्छी तरह यह देख सकते हैं कि कैसी वाणी का प्रयोग स्थायी हो गया और अपरोक्ष रूप से प्रत्येक परिवार में उन्नत हुआ और हम इसकी भी कल्पना कर सकते हैं कि किस प्रकार विविध कारणों ने भाषा को अधिक आवश्यक बनाकर उसकी प्रगति को अधिक गतिशील और व्यापक किया होगा। आवासित जनपदों को जल-प्रलय अथवा भूचालों ने करारों तथा जलाशयों से भर दिया। पृथिवी की परिक्रमाओं ने महाद्वीप खंडों को विलग करके उन्हें द्वीप बना दिया। आसानी से देखा जा सकता है कि इस प्रकार एकत्र तथा साथ रहने के लिए बाध्य मानवों के मध्य उन मानवों की अपेक्षा जो अभी तक महाद्वीपों के वनों में भ्रमण करते थे, एक सामान्य मुहाविरे का प्रयोग कहीं अधिक सरलता से प्रचलित हो गया होगा। अतः यह अधिक संभव है कि द्वीप-निवासी अपने प्रथम नौ-परिवहन-

प्रयत्नों के बाद अपने साथ महाद्वीपों में वाणी का प्रयोग ले आये होंगे। और यह और भी अधिक सम्भव है कि भाषाएँ एवं जातियाँ सर्वप्रथम द्वीपों पर ही सृजित और परिपक्वता को प्राप्त हुई होंगी और तब वे मुख्य भूखण्ड में आयी होंगी।

अब प्रत्येक वस्तु अपना रूप परिवर्तित करना आरंभ करती है। जो मनुष्य अभी तक वनों में भटकते रहते थे, वे अधिक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करते हुए धीरे-धीरे एक दूसरे के अधिक समीप आ जाते हैं; पृथक् संस्थाएँ बनाते हैं और अन्त में प्रत्येक देश में एक पृथक् राष्ट्र बन जाता है जो कानूनों एवं नियमों द्वारा नहीं बल्कि जीवन-प्रणाली एवं भोजन की अनुरूपता तथा जलवायु के सामान्य प्रभाव के कारण चरित्र एवं आचरण में एक था। स्थायी पड़ोस कालान्तर में विभिन्न परिवारों के बीच कुछ सम्बन्ध कायम किये बिना कैसे रह सकता था? पाम के झोपड़ों में आवास करनेवाले स्त्री-पुरुष युवा प्राणियों के मध्य प्रकृति द्वारा वांछित क्षणिक व्यापार ने शीघ्र ही दूसरे प्रकार के, कम अरुचिकर परन्तु अधिक स्थायी पारस्परिक संसर्ग का श्रीगणेश करा दिया। मानव ने अब विभिन्न पदार्थों के पार्थक्य पर ध्यान देना तथा उनमें तुलनाएँ करना आरंभ किया। उन्होंने अगोचर रूप से सौन्दर्य एवं योग्यता के विचार उपाजित किये जिसने शीघ्र ही वरीयता की भावनाएँ उत्पन्न कीं। एक दूसरे को प्रायः देखने के कारण वे शीघ्र ही अनवरत रूप से एक दूसरे को निहारे बिना रह न सके, उनकी आत्माओं में एक कोमल परन्तु सुखद भावना ने प्रवेश किया और न्यूनतम विरोध ने उसे एक प्रचंड आवेश में परिणत कर दिया, प्रेम के साथ ईर्ष्या का उदय हुआ; कलह की विजय हुई, और मानवी रक्त सम्पूर्ण मनोवेगों में सबसे कोमल मनोवेग के ऊपर ग्योछावर कर दिया गया।

जैसे-जैसे एक के पीछे एक विचार एवं भावना आयी और हृदय एवं मस्तिष्क क्रियाशील हुए, मानव अपने प्रारंभिक जंगलीपन को तिलांजलि देता रहा और जैसे-जैसे उसकी सीमाएँ परिवर्द्धित हुईं उसके व्यक्तिगत सम्बन्ध प्रतिदिन अधिक-धिक घनिष्ट होते गये। फिर वे अपने झोपड़ों के सामुख एक बड़े वृक्ष के नीचे जमा होने के अभ्यस्त हो गये। इस प्रकार के नर-नारियों के पास, इस भाँति जमा होकर और कोई कार्य तो करना नहीं था, इसलिए प्रेम तथा फुसंत की सच्ची संतति नृत्य एवं गान ही उनका विनोद, बल्कि धंधा बन गया। प्रत्येक व्यक्ति अन्य के बारे में विचार करने लगा और बदले में स्वयं विचारणीय होने की आशा रखने लगा। जिसने सबसे अच्छा गाया और नृत्य किया, जो सबसे सौन्दर्यवान अथवा बलवान

था या अत्यन्त चतुर था अथवा वाक्पटु था, वह सबसे अधिक विचार योग्य समझा गया। “यह असमानता की ओर सर्वप्रथम पग था, और उसी भाँति दोषों की ओर भी।” इस प्रकार की प्राथमिक विशिष्टताओं से एक ओर घृणा एवं गर्व उत्पन्न हुए और दूसरी ओर लज्जा और ईर्ष्या। और इन नवीन खमीरों द्वारा उठे हुए उफानों का ऐसे संगठनों के उत्पन्न होने पर अन्त हुआ जो निर्दोषता और सुख के लिए घातक थे।

जैसे ही मानव एक दूसरे का मूल्य समझने लगे और एक दूसरे का ख्याल करने की भावना ने मस्तिष्क में घर कर लिया तो प्रत्येक उसकी माँग करने लगा, यहाँ तक कि उसके लिए हानि उठाये बिना किसी को भी मना करना असम्भव हो गया। अस्तु, बर्बर मानवों में शिष्टता के प्रति कर्तव्य-परायणता प्रथम बार उत्पन्न हुई और प्रत्येक इच्छित हानि एक अपमान बन गयी; क्योंकि संभावित हानि के अतिरिक्त घायल पक्ष उसमें अपने व्यक्तित्व के लिए एक घृणा की भावना पाने लगा। जो कि हानि से कहीं अधिक असमर्थनीय थी।

इस प्रकार जब प्रत्येक मानव ने दूसरों द्वारा प्रदर्शित घृणा को अपने प्रति अपनी सम्मति के अनुपात में दण्डित किया तो प्रतिकार की भावना भयंकर हो गयी और मनुष्य खूनी और नृशंस हो गया। इस प्रकार की दशा हम लोगों को ज्ञात सभी बर्बर राष्ट्रों में उत्पन्न हो गयी थी। और हमारे विचारों के मध्य उचित भेद करने की कमी तथा प्रकृतिवाली अवस्था से वास्तव में इतनी दूर होने के कारण अनेक लेखकों ने जल्दबाजी में यह निर्णय कर लिया कि मानव स्वभावतः क्रूर है और अधिक उदार बनने के निमित्त शिष्ट संस्थाओं की आवश्यकता अनुभव करता है। इसके विपरीत आदिम अवस्था के मानव की मृदुलता से बढ़-चढ़ कर कोई वस्तु नहीं है क्योंकि उसे प्रकृति ने पशुओं की मूर्खता तथा सम्य मानव की घातक चंचलता दोनों से बराबर दूरी पर रखा था। सहज प्रेरणा और तर्क दोनों ने हानि पहुँचाने वाली बदमाशियों से अपनों को दूर रखने की एकमात्र चिन्ता उसमें पैदा कर दी थी। वह स्वाभाविक दयाभाव द्वारा दूसरों को हानि पहुँचाने से प्रतिबन्धित हैं; यहाँ तक कि खुद हानि या आघात उठाकर भी ऐसा कार्य करने के लिए उसे कोई प्रेरणा नहीं दी गयी। क्योंकि बुद्धिमान लॉक (Locke) के सिद्धान्त के अनुसार भी जहाँ कोई सम्पत्ति नहीं है, वहाँ कोई हानि भी नहीं हो सकती।

परन्तु यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस प्रकार जो समाज बना तथा मानवों में जो सम्बन्ध स्थापित हुए उनके लिए ऐसे गुणों की आवश्यकता थी जो

आदिम संगठन में प्राप्त गुणों से भिन्न थे। मानवीय क्रियाओं में नीति का सवाल उठने लगा और कानूनों की स्थापना के पूर्व प्रत्येक अपने को हुई हानि का खुद ही एकमात्र निर्णायक और बदला लेनेवाला था क्योंकि जो भलमनसाहत विशुद्ध प्राकृतिक अवस्था के उपयुक्त थी वह नवजात समाज की स्थिति में युक्तिसंगत नहीं रह गयी। दण्ड को अधिक कड़ा करना आवश्यक हो गया, क्योंकि क्रोध और अपमान करने के अवसर अधिक हो गये और बदला लेने के भय ने, कानून की कठोरता का स्थान ले लिया। अस्तु, यद्यपि मानव कम धीर हो गये थे और उनकी नैसर्गिक अनुकम्पा का ह्रास हो चुका था, मानव प्रवृत्तियों के प्रसार की यह कालावधि, आदिम अवस्था के आलस्य तथा हमारे आज के अहंभाव की अविनीत क्रिया के मध्य युक्तिसंगत मध्यस्थता रखते हुए अवश्य ही सबसे आनन्दमय और युगों में सबसे स्थिर रही होगी। हम जितना ही उस पर विचार करते हैं उतना ही यह पाते हैं कि इस अवस्था में सबसे कम क्रान्तियाँ हुईं और वह मानव के अनुभव में आयी सबसे अच्छी अवस्था थी। केवल प्राणनाशक दुर्घटना के ही द्वारा वह इससे दूर हट सकता था जो सार्वजनिक कल्याण की दृष्टि से कभी घटित नहीं होनी चाहिए थी। इस अवस्था में प्राप्त बर्बर मानवों के अधिकांश उदाहरण यह प्रमाणित करते हैं कि मानव वैसी ही स्थिति में रहने के लिए बने थे और यही विश्व की वास्तविक यौवनावस्था है और बाद की सभी प्राप्तियाँ बाह्य दृष्टि से व्यक्ति की परिपूर्णता की ओर विभिन्न पग के रूप में रही हैं परन्तु वास्तव में देखा जाय तो वे प्रजाति को निर्बलता की ओर ले जाने वाली ही सिद्ध हुई हैं।

जब तक मनुष्य अपनी ग्राम्य झोपड़ियों से ही सन्तुष्ट रहे, जब तक वे जानवरों की खालों के बने उन कपड़ों से प्रसन्न रहे जो मछलियों की हड्डियों से तथा काटों से सिले रहते थे, जब तक वे अपने को पंखों एवं सीपियों से सजाते व अपने शरीरों को विभिन्न रंगों से रंगते रहे, और अपने धनुष-बाणों को उन्नत एवं सौन्दर्यमय बनाने के लिए व तेज धार वाले पत्थरों से मछली पकड़ने के निमित्त नावें अथवा बेढगे बाद्य यन्त्र बनाने में लगे रहे; संक्षेप में जब तक उन्होंने ऐसे प्रयास किये जो एक व्यक्ति ही पूर्ण कर सकता था व ऐसी कलाओं तक ही अपने को सीमित रखा जिनमें विभिन्न व्यक्तियों के संयुक्त परिश्रम की आवश्यकता नहीं थी तब तक वे स्वतन्त्र, स्वस्थ, सच्चा और आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहे। और जब तक उनकी प्रकृति ने अनुमति दी, वे पारस्परिक और स्वतंत्र सम्पर्क के आनन्द लेते रहे। परन्तु जिस समय से एक मनुष्य दूसरे की सहायता की आवश्यकता अनुभव

करने लगा और जिस क्षण से एक मानव को दो के लिए व्यवस्था रखना लाभप्रद हुआ, समानता लुप्त हो गयी, सम्पत्ति का श्रीगणेश हुआ, कार्य अत्यन्तावश्यक हो गया और विस्तृत जंगल लहलहाते खेतों में बदल गये, जिन्हें मानव को खून-पसीना एक करके सींचना पड़ा और जहाँ शीघ्र ही दासता और क्लेश उपज के साथ उत्पन्न होने लगे।

कृषि एवं धातु-विज्ञान ऐसी विद्याएँ थीं जिन्होंने यह महती-क्रान्ति उत्पन्न की। कवियों के अनुसार स्वर्ण एवं रजत, परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि में लोहा व अनाज, ऐसे पदार्थ थे जिन्होंने मानव को सर्वप्रथम सभ्य बनाया और मानवता का सर्वनाश किया। ये दोनों ही अमेरिका के बर्बरों को अज्ञात थे, जो इस दृष्टि से अब भी बर्बर हैं। अन्य राष्ट्र भी इस कारण बर्बर स्थिति में बने रहे कि उन्होंने इन विद्याओं में से एक का अभ्यास किया। यूरोप शेष विश्व से अधिक नहीं तो फिर भी प्रायोधिक अनवरत रूप से उन्नत व सभ्य रहा, इसके सर्वोत्कृष्ट कारणों में से एक यह था कि वहाँ सर्वाधिक रूप से लोहे का बाहुल्य था और अनाज के विषय में वह उपजाऊ था।

इसकी कल्पना करना कठिन है कि मनुष्यों ने सर्वप्रथम किस प्रकार लोहे का प्रयोग सीखा; क्योंकि यह मानना असंभव है कि उन्होंने बिना यह जाने कि फल क्या होगा स्वतः प्रेरणा से, खान से इस्पात खोदने और गलाने की क्रिया को सोचा होगा। दूसरी ओर हमें यह सोचने के लिए बहुत कम कारण हैं कि यह खोज आकस्मिक आग लगने की दुर्घटना का फल थी क्योंकि खानें केवल ऐसे बंजर स्थानों में ही होती हैं जो वृक्षों एवं पौधों से विहीन होते हैं जिससे ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रकृति ने उस प्राणनाशक रहस्य को हमसे गुप्त रखने का यत्न किया हो। इसलिए केवल यह सम्भावना शेष रह जाती है कि ज्वालामुखी के विस्फोट की किसी आश्चर्यजनक दुर्घटना ने पहले से ही पिघलकर मिली हुई धातुओं के घोल को बाहर उगलकर, मानव दर्शकों को उस प्राकृतिक क्रिया का अनुकरण करने के लिए सुझाव दिया हो। और हमें आगे भी कल्पना करनी चाहिए कि वे आश्चर्यजनक साहस और दूरदर्शिता से भरे हुए ऐसे परिश्रमपूर्ण कार्य करने में समर्थ थे यद्यपि उससे लाभ उठाने की संभावना कही दूर थी। फिर भी ऐसे गुण केवल उन मस्तिष्कों में हो सकते थे जो उनसे अधिक उन्नत थे जिनका हम इन प्रथम शोधकर्ताओं में होने का अनुमान किया करते हैं।

जहाँ तक कृषि की बात है इसके सिद्धान्त प्रयोग में लाये जाने के बहुत पहले

से ही ज्ञात थे और यह वास्तव में सम्भव नहीं जान पड़ता कि जो मनुष्य अनवरत रूप से वृक्षों और पौधों से अपनी वृत्ति प्राप्त करने में व्यस्त थे, वे तत्परता से प्रकृति द्वारा प्रयोग में लाये गये साग-सब्जियों को पैदा करने के साधनों का ज्ञान न उपार्जित करते। हाँ, इस बात की संभावना जरूर है कि इस उद्योग को अपनाने में बड़ा लम्बा समय लगा होगा क्योंकि जो वृक्ष उन्हें शिकार व मछली पकड़ने के बाद उनके भोजन के मुख्य स्रोत थे, उन्हें उनकी सार-संभाल की जरूरत नहीं थी अथवा इसलिए कि वे अनाज के प्रयोग से अनभिज्ञ थे, या उनके पास खेती करने के यंत्र नहीं थे, या इसलिए कि वे अपनी भविष्य की आवश्यकताओं के विषय में दूरदर्शी नहीं थे या इसलिए कि उनके पास ऐसे साधनों का अभाव था जिनसे वे अपने परिश्रम के फल को दूसरों द्वारा हड़प लिये जाने से रोक सकते।

जब वे अधिक उद्यमी हुए, उन्होंने तीखे पथरों और नुकीली छड़ियों की सहायता से अपने झोपड़े के चारों ओर कुछ सब्जियाँ उगाना या जड़ें उगाना आरंभ किया, यद्यपि उन्हें अनाज उत्पादन क्रिया का ज्ञान होने अथवा अधिक मात्रा में उगाने के लिए आवश्यक यंत्र प्राप्त करने में पर्याप्त समय लगा होगा। यह कहना व्यर्थ नहीं होगा कि खेती-बाड़ी के लिए यह कितना आवश्यक था कि वे इस आशा से कि भविष्य में लाम होगा, तात्कालिक हानि को सहन करने के लिए उद्यत होते। इस प्रकार की पूर्वचिन्ता बर्बर मानव के मस्तिष्क से परे की चीज थी क्योंकि जैसा कि मैं कह चुका हूँ, कि वह सुबह भी कठिनाई से यह देख पाता था कि उसे रात्रि में क्या आवश्यकता होगी।

इसलिए अन्य कलाओं का आविष्कार मानवजाति को कृषि में दत्तचित्त होने के लिए परमावश्यक रहा होगा। लोहे को गलाने तथा गर्म करके काम की वस्तुएँ बनाने के लिए जिस समय कारीगरों की आवश्यकता हुई उसी समय अन्य श्रमिकों की उनको बनाये रखने के लिए भी जरूरत पड़ी। उत्पादन कार्य में जितने ही अधिक मनुष्यों की आवश्यकता हुई उतने ही कम व्यक्ति सामान्य आजीविका निर्वाह के लिए शेष रह गये यद्यपि खाद्य सामग्री के उपभोक्ताओं की संख्या वही बनी रही। जैसे ही कुछ व्यक्तियों ने अपने लोहे के बदले अन्य पदार्थों को लेने की आवश्यकता अनुभव की, शेष ने अन्त में दूसरे पदार्थों की वृद्धि के लिए लोहे को उपयोगी बनाने के तरीकों की खोज की। इस प्रकार एक ओर कृषि तथा खेती-बाड़ी की कलाओं की स्थापना हुई और दूसरी ओर प्रयोग में आने वाली धातुओं और उनकी उपयोगिता में वृद्धि करने की कला-स्थापना का उदय हुआ।

धरती की जुताई के फलस्वरूप वितरण का प्रश्न उठा और सम्पत्ति ने मान्यता प्राप्त करते ही न्याय के प्रथम नियमों का सृजन कराया; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य की अपनी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए प्रत्येक के लिए कुछ न कुछ प्राप्त करना भी आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त जैसे ही मनुष्य भविष्य की ओर दृष्टिपात करने लगे और सभी को कुछ न कुछ खोना पड़ा, प्रत्येक व्यक्ति को भय होने लगा कि यदि उसने दूसरे को कोई क्षति पहुँचायी तो निश्चय ही वह बदला लेगा। यह उद्गम इतना नैसर्गिक है कि यह कल्पना करना नितान्त असम्भव है कि सम्पत्ति मानवी श्रम के अतिरिक्त किसी और प्रकार से भी आ सकती है। क्योंकि मनुष्य वर्तमान वस्तुओं में उन पदार्थों के अतिरिक्त जोड़ भी क्या सकता है जिन्हें वह मूलरूप से अपनी सम्पत्ति बना लेने के हेतु सृजित नहीं कर लेता? यह खेतिहर का केवल श्रम ही है जो उसे अपने जोते हुए खेत की उत्पादित उपज पर उसे अधिकार दिलाता है और उस भूमि पर भी अधिकार दिलाता है जो उसने जोती-बोई है विशेषतः वार्षिक पैदावार के समय तक और इसीलिए प्रतिवर्ष एक अनवरत अधिकार मिलते रहने से ही वह सम्पत्ति बन सकती थी। ग्रीशस (Grotius) के कथनानुसार जब पुरातनों ने सीरीज (Ceres) को लेजिस्ट्रेलिस (Legistralix) की उपाधि दी और उसके मान में थेस्मोफोरिया (Thesmophoria) नामक त्यौहार मनाया तो उससे उनका तात्पर्य यह था कि भूमि के वितरण ने एक नये ढंग अर्थात् सम्पत्ति के अधिकार का, जो प्रकृति के नियमों से उत्पन्न अधिकारों से भिन्न था, निर्माण किया।

ऐसी दशा में, यदि व्यक्तियों की बुद्धि समान होती तो समानता अवश्य स्थिर बनी रहती। उदाहरणार्थ यदि लोहे की खपत तथा उसकी बनी वस्तुओं का प्रयोग सदैव एक दूसरे को ठीक तौर से संतुलित रखता, तो यह बात भी रहती परन्तु इस संतुलन को बनाये रखने के लिए कोई वस्तु न थी, अतः वह शीघ्र ही अस्तव्यस्त हो गयी। जो ज्यादा शक्तिशाली था उसने अधिक कार्य किया, सबसे चतुर ने अपने श्रम को सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रयुक्त किया, और सबसे निष्कपट प्रकृतिवालों ने अपने श्रम का न्यूनतम प्रयोग करने की प्रणाली को अपनाया। खेतिहर अधिक लोहा चाहता था और लोहार अधिक अनाज और जहाँ दोनों ने समान रूप से परिश्रम किया एक ने अपने श्रम से अधिक लाभ उठाया और द्वितीय ने कठिनाई से अपने को संभालने योग्य पाया। इस प्रकार संगठन के साथ अनजाने ही नैसर्गिक असमानता अपने को व्यक्त करने लगी; विभिन्न परिस्थितियों से उत्पन्न मानवों के

बीच का अन्तर विकसित होकर अपने प्रभावों में अधिक बोधजन्य तथा स्थायी होता गया; और उसी अनुपात में व्यक्तियों के समुदाय पर प्रभावशाली भी।

एक बार वस्तुस्थिति के इस शिखर पर पहुँच जाने के बाद दूसरी बातों की कल्पना करना सरल है। मैं अन्य विद्याओं के क्रमिक आविष्कार, भाषा के विकास, बौद्धिक विशेषता की परीक्षा तथा प्रयोग, भाग्य की भिन्नताओं, धन के उपयोग और दुरुपयोग, और तत्संबन्धी समस्त विस्तृत बातों का, जो पाठक स्वयं सरलता से उपलब्ध कर सकते हैं, वर्णन करके पाठकों का समय नष्ट नहीं करूँगा और इन नवीन परिस्थितियों में अपने को मानव जाति के सिंहावलोकन तक ही सीमित रखूँगा।

अब समस्त मानवी शक्तियों को विकसित रूप में देखिए। स्मृति तथा कल्पना को स्वच्छन्द रूप में, अहंभाव को स्वार्थरत, तर्क को सक्रिय और मस्तिष्क को परिपक्वता के सर्वोच्च शिखर पर देखिए। समस्त स्वाभाविक गुणों को क्रियात्मक रूप में देखिए। प्रत्येक मानव का पद तथा स्थिति, जो उसके लिए मनोनीत है, न केवल उसका सम्पत्ति में भाग और उसकी दूसरों को हानि पहुँचाने या उनकी सेवा करने की शक्ति, वरं उसका मसखरापन, सौन्दर्य-माकेत या चतुराई, बुद्धिमानी अथवा बौद्धिक विलक्षणता भी देखिए और यही ऐसे गुण थे जो सम्मान प्रदान करने की क्षमता रखते थे। इसलिए शीघ्र ही आवश्यक हो गया कि उन पर अधिकार किया जाय अथवा उन्हें प्रभावित किया जाय।

अब यह मानव के हित में हो गया कि वह अपने को ऐसा प्रदर्शित करे जो वह वस्तुतः नहीं है। सचमुच वैसा होना तथा वैसी अवस्था में दिखायी पड़ना ये दो नितान्त भिन्न वस्तुएँ थीं और इस भेदभाव से निर्लज्ज वैभव और घोखे में डालनेवाली चालाकी उत्पन्न हुई, फिर उससे और भी बुराइयाँ आयीं। दूसरी ओर पहिले के स्वतंत्र व स्वच्छन्द मानव नवीन आवश्यकताओं की वृद्धि के फलस्वरूप, मानो समस्त प्रकृति तथा एक दूसरे के अधीन हो गये, और प्रत्येक कुछ मात्रा में दूसरे मनुष्य का स्वामी बनने पर भी दास बन गया। यदि वे धनवान थे, तो उन्हें दूसरों की सेवा की आवश्यकता हुई; यदि वे गरीब थे तो उनकी सहायता की आवश्यकता पड़ी; और यदि फ़िर्मा की मध्य स्थिति भी रही तो उसमें भी वे एक दूसरे के बिना काम चलाने में असमर्थ रहे। ऐसी स्थिति में मानव निरन्तर दूसरों को अपनी स्वार्थपूर्ति में, यदि वास्तव में नहीं तो कम से कम बाह्य रूप में, लगाता गया और अपने स्वार्थ को उन्नत करने में ही उसने लाभ देखा। इस प्रकार वह

कुछ के प्रति अपने व्यवहार में कपटी तथा चालाक और अन्य के सम्मुख क्रूर तथा ढीठ हो गया। जिन व्यक्तियों की उसे आवश्यकता थी उनकी जरूरत पर जिन्हें वह डराकर आज्ञापालन नहीं करा सका उनका दुष्प्रयोग करने की वृत्ति आयी; उनके प्रति लाभप्रद होने को उसने अपने हित में नहीं समझा।

अतृप्त महत्वाकांक्षा, अपने-अपने भाग्य को उन्नत बनाने की पिपासा, वास्तविक आवश्यकता से नहीं बरन् दूसरों के आगे बढ़ जाने की इच्छा ने, मानवों को एक दूसरे को हानि पहुँचाने की नीच प्रवृत्ति और एक गुप्त ईर्ष्या की उस भावना की ओर प्रेरित किया, जो अधिक भयानक है, क्योंकि वह परोपकार का मुखौटा लगाये हुए अपने दृष्टिकोण को अधिकतम सुरक्षा के साथ कार्यरूप में पारित कर सकती है। संक्षेप में, एक ओर प्रतियोगिता तथा प्रतिस्पर्धा और दूसरी ओर पारस्परिक विरोधी हितों का उदय हुआ। इसके साथ एक गुप्त इच्छा भी आयी जो दोनों स्थितियों में दूसरों का कीमत पर स्वयं लाभान्वित होने की थी। ये सब दोष सम्पत्ति के सर्वप्रथम प्रभाव थे और बढ़ती हुई असमानता के पृथक न होने वाले अनुचर थे।

धन-वैभव को दर्शाने वाले संकेतों के आविष्कार से पहिले धन-सम्पत्ति, भूमि तथा जन्तु के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकती थी। वही मानव की एकमात्र वास्तविक निधि थी। परन्तु जब पैतृक सम्पत्तियाँ संख्या एवं विस्तार में इतनी बढ़ गयीं कि समस्त भूमि घिर गयी और वह सम्पत्ति एक दूसरे की सीमा को छूने लगी तब एक मानव दूसरे को हानि पहुँचाकर ही अपना धन व मान बढ़ाने का कार्य कर सकता था। उस समय बहुत से लोग जो इस प्रकार उपार्जित करने में असमर्थ रहे अथवा अत्यधिक आलसी होने के कारण बिना किसी हानि को सहन किये हुए भी दरिद्र हो गये और अपने चारों ओर प्रत्येक वस्तु को बदलते देखकर भी बैठे रहे, स्वयं अपरिवर्तनीय बने रहे तथा अपनी आजीविका प्राप्त करने अथवा धनिकों से उसे चुराने में अनुगृहीत रहे; इससे शीघ्र ही, उनके विभिन्न चरित्रों के अनुसार, प्रभुत्व व दासता अथवा हिंसा और लूट-खसोट का उदय हुआ। जैसे ही धनिकों ने स्वतः आदेश देकर काम कराने के आनन्द का उपभोग किया वैसे ही वे धन्य समस्त जनों को घृणा की दृष्टि से देखने लगे। अब उन्होंने अपने पुराने दासों को नवीन सेवक बनाने में प्रयोग करना शुरू किया और अपने पड़ोसियों को अधिकृत करने व उन्हें दास बनाने के सिवा और कुछ सोचना बंद कर दिया। उन अत्यधिक भूखे भेड़ियों की भाँति, जो एक बार मानवी मांस का मक्षण कर लेने के बाद

अन्य खाद्य सामग्री को घृणा की दृष्टि से देखते व केवल मनुष्य के भक्षण की ही चाह रखते हैं।

इस प्रकार सर्वशक्तिशाली अथवा सर्वाधिक क्लेशयुक्त दीन-दुखी दोनों ने अपनी शक्ति अथवा क्लेश को दूसरों की सम्पत्ति पर एक प्रकार के अधिकार के रूप में समझ लिया जो उनकी सम्पत्ति में सम्पत्ति के समान ही था। इससे समानता का विनाश होते ही भयंकर विप्लव शुरू हो गये। धनिकों द्वारा अवैध कब्जे, गरीबों द्वारा डकैती, तथा दोनों की ही उच्छृंखल कामनाओं ने नैसर्गिक अनुकंपा की चीख-पुकार को तथा उससे भी अधिक दुर्बल न्याय की आवाज को दबा दिया, और मनुष्यों को धनलिप्सा, महत्वाकांक्षा एवं व्यभिचार से ओत-प्रोत कर दिया। सर्वशक्तिमान तथा प्रथम कब्जा करनेवाले के मध्य अधिकार के लिए अनवरत संघर्ष चलने लगे जिनका अन्त युद्ध और रक्तपात में होने लगा। समाज की नवजात अवस्था भयंकर युद्धावस्था में बदल गयी। मनुष्य इस प्रकार उत्पीड़ित और विकृत हो गये कि अपने कदम पीछे हटाने अथवा अपनी प्राणनाशक प्राप्तियों को त्यागने के योग्य नहीं रहे; उल्टे अपनी उन शक्तियों के दुष्प्रयोग से, जो उन्हें सम्मानित बनाने योग्य थीं, उन्होंने न केवल गड़बड़ी पैदा की वरन् अपने को सर्वनाश के किनारे तक पहुँचा दिया।

“गरीब व अमीर दोनों, अपनी नवजात बुराइयों पर स्तम्भित होकर द्रव्य से दूर भागेंगे और सभी मनोवांछित वस्तुओं को खो बैठेंगे।”—ओविद

यह असम्भव है कि अन्ततोगत्वा मनुष्य ऐसी दुःखदायी परिस्थिति और उन मुसीबतों पर, जिन्होंने उन्हें घेर लिया था, विचार न करते। धनी लोगों ने विशेषरूप से अनुभव किया होगा कि अनवरत युद्ध की स्थिति से उन्होंने कितनी हानि उठायी। क्योंकि युद्ध का सारा व्यय तो उन्हें ही वहन करना पड़ता था। यद्यपि सबने अपना जीवन संकट में डाला, किन्तु केवल वे ही थे जिनकी सम्पत्ति को संकट झेलना पड़ा। इसके अतिरिक्त चाहे जितने सुन्दर बनावटी रूप में वे अपने अपहरणों को रखते, इतना तो वे जानते थे कि वे अनिश्चित एवं झूठे अधिकारों पर आधारित हैं; यदि अन्य पुरुषों ने उनसे बलपूर्वक उन वस्तुओं को छीन लिया जो उन्होंने स्वयं बलपूर्वक प्राप्त की थीं, तो उन्हें शिकायत का कोई अवसर नहीं होना चाहिए। यहाँ तक कि जो अपने उद्यम से धनवान हुए थे, वे भी अपने स्वामित्व को इससे अच्छे दावों पर आधारित न कर पाये। यह दोहराना व्यर्थ था कि “मैंने यह कुआँ बनवाया या मैंने यह स्थान अपने उद्यम से प्राप्त किया।”

उत्तर में कहा जा सकता था कि तुमको वह स्थान किसने दिया और तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम हमसे ऐसा कार्य करने का पारिश्रमिक माँगो जिसे करने के लिए हमने कभी कहा ही नहीं ? क्या तुम नहीं जानते कि तुम्हारे असंख्य सहोदर जीव उन वस्तुओं के अभाव में भूखों मर रहे हैं, जो तुम्हारे पास बहुतायत से हैं। तुम्हें साधारण आजीविका व स्वयं के पालन-पोषण से अधिक अपने लिए अलग निकाल कर रखने के निमित्त मानव जाति की व्यापक व व्यक्त अनुमति वांछनीय थी। धनिक वर्ग अपने वैभव को न्यायसंगत सिद्ध करने में संगत तर्कों और अपनी रक्षा योग्य पर्याप्त शक्ति के अभाव में मिटने लगा। जब वह अकेले सबों के मुकाबले सरलता से दूसरों का दमन करने में असफल हो गया तथा डाकुओं के गिरोह से आसानी से दबा दिया गया, पारस्परिक स्पर्धा के कारण असमर्थ होने लगा, व लूट की इच्छा से संयुक्त हो गये असंख्य शत्रुओं के विरुद्ध खड़ा न रह सका तो धनी पुरुष ने आवश्यकता से प्रेरित होकर अन्ततोगत्वा एक ऐसी अत्यन्त गंभीर योजना बनायी जो पहले कभी मानव के मस्तिष्क में नहीं आयी थी। जिन शक्तियों ने उस पर आक्रमण किया उन्हें ही अपने पक्ष में प्रयोग करने, शत्रुओं को मित्र बनाने और उन्हें विभिन्न सिद्धान्तों से प्रेरित करने तथा उन्हें दूसरी ऐसी संस्थाएँ देने की योजना उसने सोची जो उसके उतनी ही अनुकूल थीं जितना प्रकृति का कानून उसके प्रतिकूल था।

इस दृष्टिकोण से, उसने पड़ोसियों को ऐसी परिस्थिति की भयंकरता बतायी जिसमें प्रत्येक मनुष्य दूसरों के विरुद्ध सशस्त्र हो उठा था और उनकी सबकी अपनी पूँजी भी उतनी ही भारस्वरूप बन गयी थी जितनी कि उनकी आवश्यकताएँ थीं; जिसमें न धन-सम्पत्ति में और न दुरिद्रता में सुरक्षा की कोई आशा की जा सकती थी। उसने अत्यन्त शीघ्रता से उन्हें अपनी अपनी योजना के अनुरूप बनाने के ध्येय से लोकप्रिय तर्क प्रस्तुत किये। उसने कहा—“आओ, हम सब एक हो जायें, और दुर्बल को क्रूरता से बचाने के लिए, महत्वाकांक्षी पर रोक लगाने के लिए, प्रत्येक मनुष्य की उपाजित सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए; न्याय एवं शांति के ऐसे नियम बनायें जिनका बिना अपवाद के सभी पालन करें, ऐसे नियम जो किसी मात्रा तक भाग्य की परिवर्तनशीलता की क्षतिपूर्ति कर सकें और दुर्बल तथा शक्तिशाली को समानरूप से पारस्परिक जिम्मेदारियों के पालन के लिए बाध्य कर सकें। संक्षेप में, हम अपनी शक्ति का प्रहार अपने ही ऊपर करने के स्थान पर उसे एक महती शक्ति में संचित करके, अपने पर विवेकपूर्ण नियमों के द्वारा अनुशासन रखें,

संस्था के सभी सदस्यों को सुरक्षा दें और उनको बचायें, अपने सामान्य शत्रुओं को मार भगायें और अपने मध्य स्थायी सामंजस्य स्थापित करें।”

ऐसे पाशविक और सरलता से फुसलाये जा सकने वाले मनुष्यों पर इस ध्येय से अनुशासन स्थापित करने के लिए और भी कम शब्दों की आवश्यकता थी; विशेषतः जबकि उनमें आपस में इतने अधिक विवाद थे कि वे पंच निर्णायकों के बिना काम नहीं कर सकते थे और इतनी महत्वाकांक्षा और स्पर्धा थी कि बिना स्वामियों के अधिक दिन तक वे काम नहीं चला सकते थे। अस्तु, स्वतंत्रता प्राप्त करने की आशा में सभी सीधे दासता की बेड़ियों में जकड़ गये, क्योंकि उनमें राज-नैतिक संस्थाओं के लाभों को समझने की शक्ति तो थी परन्तु उनमें संकटों को पहले से देखने की क्षमता नहीं थी। संकटों का पूर्वाभास लेने वाले वही व्यक्ति थे जिन्हें उनसे लाभान्वित होने की आशा थी और जो सबसे बुद्धिमान थे वे भी दूसरों के निमित्त अपनी स्वतंत्रता का एक अंश भी त्यागने को अनुचित समझते थे। जैसे एक आहत व्यक्ति अपने शेष शरीर को बचाने के लिए अपना बाजू कटवा देता है वैसे ही उन्हें करना पड़ा।

ऐसा था अथवा संभवतः ऐसा रहा होगा, समाज एवं कानून का उद्गम जिसने दरिद्रों को नयी बेड़ियों में जकड़ा और धनिकों को नयी शक्तियाँ प्रदान कीं। उसने असाध्य रूप में प्राकृतिक स्वतंत्रता को नष्ट किया, स्थायी रूप से सम्पत्ति एवं असमानता के कानून निश्चित कर दिये; चतुराई के साथ जो कब्जे कर लिये गये थे उनको अपरिवर्त्तनीय अधिकार में बदल दिया और चन्द महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लाभ के लिए समस्त मानव जाति को सदैव के श्रम, दासता और दुर्भाग्य के अधीन कर दिया।

यह देखना सरल है कि किस भाँति एक समुदाय की स्थापना ने अन्य की स्थापना का श्रीगणेश कराया और संगठित शक्तियों का विरोध करने व सिर उठाने के लिए, शेष मानव जाति को अपने बचाव के लिए संगठित होना अनिवार्य हो गया। संस्थाओं की संख्या शीघ्र बढ़ गयी और पृथिवी भर पर फैल गयी, यहाँ तक कि संसार का कोई ऐसा कोना नहीं बचा जहाँ मनुष्य जुए से बच सकता और उस तलवार के नीचे से अपना शीश निकाल पाता जिसे वह अनवरत रूप से अपने ऊपर एक महीन घागे से लटकते हुए देख रहा था। इस प्रकार प्रत्येक जाति के सदस्यों में सिविल (दीवानी) अधिकार एक साधारण नियम की भाँति हो गये और प्रकृति का नियम केवल विभिन्न जातियों के बीच ही अपना स्थान सुरक्षित रख सका। जहाँ राष्ट्रों

के अधिकार के नाम पर कुछ गुप्त परम्पराओं द्वारा उसमें भी काफी बंदिशें लगा दी गयीं। इन परम्पराओं का उद्देश्य व्यापार को व्यावहारिक बनाना तथा उस नैसर्गिक अनुकंपा के विकल्प के रूप में काम करना था जो समुदायों पर प्रयुक्त होकर अपना वह प्रभाव खो चुकी थी जो पहिले वह व्यक्तियों पर रखती थी। कुछ ऐसे सार्वभौम भावना वाले उदार व्यक्तियों को छोड़कर अब उसका कहीं अस्तित्व भी नहीं रह गया था, जो विभिन्न जातियों के बीच कल्पित बाड़ों को तोड़कर महान् स्रष्टा की भाँति समस्त विश्व को अपनी उदारता से बांध चुके थे।

परन्तु राजतंत्रीय संस्थाओं ने भी परस्पर प्राकृतिक अवस्था में रहते हुए तत्काल ऐसी असुविधाओं का अनुभव किया जिनके कारण व्यक्तियों को उसे त्यागने पर बाध्य होना पड़ा था। क्योंकि यह स्थिति उन व्यक्तियों की अपेक्षा जिनसे ये समुदाय बने थे, खुद उन महान् समुदायों के लिए कहीं अधिक प्राणनाशक बन गयी। फलस्वरूप राष्ट्रीय युद्ध, लड़ाइयाँ, हत्याएँ और प्रतिकार, जो प्रकृति को चकित व विवेक को लज्जित करते हैं, तथा वे सभी भयानक दुर्भावनाएँ, जो मानवी रक्तपात करने के गौरव को गुणों में सम्मिलित करती हैं, सामने आ गयीं। सर्वश्रेष्ठ मनुष्यों ने एक दूसरे के गले पर छुरी चलाने को अपना कर्तव्य समझा और अन्त में मनुष्यों ने अपने सहोदर बन्धुओं का सहस्रों की संख्या में संहार कर डाला, बिना यह जाने कि क्यों? केवल एक दिन के युद्ध में उससे कहीं अधिक हत्याएँ, और एक ही नगर की लूट-खसोट में उससे कहीं अधिक भयानक ज्यादातियाँ हुईं, जितनी प्राकृतिक अवस्था में, समस्त धरातल पर सम्पूर्ण युगों में हुई होंगी। इस प्रकार के थे प्रथम प्रभाव, जो मानव जाति के विभिन्न समुदायों में विभाजन के पश्चात् व्यक्त हुए थे। परन्तु हमें उनकी संस्थाओं की ओर लौट आना चाहिए।

मैं यह जानता हूँ कि राजनैतिक संस्थाओं के उद्गम के सम्बन्ध में कुछ लेखकों ने भिन्न स्पष्टीकरण दिये हैं :— उदाहरणार्थ शक्तिशाली द्वारा विजय-अभियान अथवा दुर्बलों के संगठन। परन्तु मेरे तर्क में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि इन कारणों में से वे किसे चुनते हैं। फिर भी जो कारण मैंने अभी निर्धारित किया है वह मुझे निम्नलिखित कारणों से सबसे अधिक नैसर्गिक प्रतीत होता है।

प्रथम—पहिली बात तो यह है कि विजय का अधिकार अपने स्वतंत्र रूप में कोई अधिकार नहीं, इसलिए वह दूसरे अधिकारों के निर्माण के लिए आधार नहीं बन सकता। विजेता और विजित एक दूसरे के सम्मुख युद्ध-स्थिति में उस समय तक

रहे जब तक कि विजित ने अपनी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करके भी, अपनी इच्छा से विजेता को अपना मुखिया बनाने का निश्चय न कर लिया। क्योंकि उस समय तक हिंसा के बल पर चाहे जो आत्मसमर्पण रहा हो, और इसलिए सत्यता में वह प्रभावहीन ही था, इस कल्पना के आधार पर न तो वास्तविक समाज अथवा राजतन्त्रीय संस्था ही बन सकती थी और न सर्वशक्तिशाली वाले कानून के अलावा कोई कानून ही बन सकता था।

द्वितीय : चूंकि द्वितीय स्थिति में 'बलवान' तथा 'दुर्बल' शब्द अस्पष्ट हैं; सम्पत्ति के अधिकार की स्थापना अथवा उसके पहिले चला आता कब्जा और राजनैतिक शासन की स्थापना के मध्यान्तर में, इन शब्दों का अर्थ 'धनवान' एवं 'दरिद्र' से कहीं भली प्रकार व्यक्त होता है ; तथा वास्तव में कानूनों की स्थापना के पहिले, अपने समान स्तर वालों के ऊपर अधिकार करने के सिवाय, उनके माल-अस-बाब पर आक्रमण करने अथवा अपने में से कुछ उनको दे देने के कोई दूसरा मार्ग मनुष्यों के सम्मुख नहीं था।

तृतीय : चूंकि गरीबों के लिए सिवाय स्वतंत्रता खोने के और कोई चारा नहीं था, इसलिए उनके लिए स्वतः अपनी इच्छा से एकमात्र माल-असबाब का, जिसका वे भोग कर रहे थे, बिना कुछ बदले में प्राप्त किये त्याग देना एकदम हास्यास्पद था। धनवान अपनी सम्पत्ति के प्रत्येक अंश के विषय में भावनाएँ रखते थे; उन्हें हानि पहुँचाना कही सरल था, और इसलिए उनका पहिले से ही होशियार रहना और भी आवश्यक था। संक्षेप में यह अनुमान लगाना अधिक तर्कसंगत होगा कि एक वस्तु का आविष्कार, उन व्यक्तियों की अपेक्षा जिन्हें उसने हानि पहुँचाई होगी, उन व्यक्तियों के द्वारा होने की अधिक संभावना है जिनके लिए वह किसी सेवा योग्य रही होगी।

प्रारम्भिक अवस्था में शासन का कोई स्थायी रूप नहीं था। अनुभव और दर्शन की कमी के कारण मनुष्य सिवाय वर्तमान असुविधाओं के और कुछ देखने में अस-मर्थ थे। उन्होंने दूसरों के विरुद्ध प्रबन्ध करने की बात केवल इसलिए सोची कि वह उनके सम्मुख प्रस्तुत हुई। सबसे बुद्धिमान विधायकों के प्रयत्नों के बावजूद भी राजनैतिक राज्य अपूर्ण रहा क्योंकि वह संयोग के परिणाम से कुछ ही अधिक था। बुरी अवस्था में उसका प्रारंभ हुआ और यद्यपि काल ने इसके दोष स्पष्ट किये और सुधार भी सुझाये परन्तु वास्तविक त्रुटियाँ कभी सही नहीं हुईं। अनवरत रूप से उन पर पैबन्द लगाये जाते रहे, जबकि प्रथम कार्य यह होना चाहिए था कि

यदि एक स्थायी और स्थिर ढाँचा निर्मित करना था तो मैदान साफ हो जाता तथा समस्त पुराने अंजर-पंजर हटा दिये जाते, जैसा कि लाइकुरगस (Lycurgus) ने स्पार्टा (Sparta) में किया था। आरंभ में समाज केवल कुछ साधारण परम्पराओं से ही युक्त था जिन्हें पालन करने की बाध्यता प्रत्येक सदस्य ने अपने ऊपर ली और संविदाओं के सम्पादन के लिए सम्पूर्ण संस्था, प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रतिभू बन गयी। ऐसे संविधान की दुर्बलता केवल अनुभव ही दर्शा सकता था और कितनी सरलता से दंड-भय के बिना उसका उल्लंघन किया जा सकता था; पर जहाँ प्रजा ही एकमात्र साक्षी और न्यायाधीश थी, वहाँ मनुष्यों को दोषों के विषय में विश्वास करा देना कितना कठिन था। नियमों की अवहेलना विभिन्न तरीकों से हो सकती थी। विप्लव और असुविधाएँ अनवरत रूप से तब तक परिवर्द्धित होती गयीं, जब तक कि सार्वजनिक सत्ता का भयावह उत्तरदायित्व व्यक्तिगत पुरुषों को सौंपना अनिवार्य न हो गया और लोकतंत्र के निर्णयों के प्रति आज्ञापालन की चिन्ता मजिस्ट्रेटों को न सौंप दी गयी। यह कथन कि मुखियाओं का चयन राज्यों के संगठन से पहले ही हो गया था और कानून का प्रशासन स्वयं नियमों के सृजन से पहिले से ही था, इतना निरर्थक है कि उस पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया जा सकता।

यह अनुमान करना भी बुद्धि के विपरीत होगा कि मनुष्य ने सर्वप्रथम अपने को असमाधेय रूप से बिना शर्त निरंकुश स्वामी के हाथों में सौंप दिया, और यह कि स्वाभिमानी और अपराजित मनुष्यों ने अपनी साधारण सुरक्षा के लिए पहिला काम यही किया कि दौड़कर सीधे दासता की गोद में चले गये। यदि यह सत्य न होता कि वे उत्पीड़न से बच जायेंगे और अपने जीवन, स्वतंत्रता तथा सम्पत्ति की, कहने का तात्पर्य यह है कि अपने व्यक्तित्व के विभिन्न मूल तत्वों की सुरक्षा उन्हें प्राप्त होगी, तो फिर अपने से वरिष्ठ को ग्रहण करने का कारण ही क्या हो सकता था? अब मनुष्य मनुष्य के बीच में, सबसे बुरी चीज यही हो सकती थी कि एक मनुष्य अपने को दूसरे की दया पर निर्भर पाता और यह बात सहज बोध की दृष्टि से बिल्कुल असंगत होती कि एक मुखिया को ऐसी चीजें सौंप दी जातीं जिन्हें बनाये रखने के लिए ही वे उसकी सहायता चाहते थे इतने बड़े अधिकार की बराबरी की वह क्या चीज बदले में देता? और यदि उसने उनकी सुरक्षा के बहाने बलपूर्वक ग्रहण करने का पूर्व निश्चय कर लिया होता तो क्या उसे एक गाथा में अंकित यह उत्तर प्राप्त न होता?—“हमारे साथ शत्रु और अधिक क्या कर

सकता था ?” इसलिए यह विवाद के परे है और वास्तव में समस्त राजनैतिक अधिकार का सारभूत सिद्धान्त यह है कि प्रजा ने अपनी स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए मुखियाओं को पदासीन किया था न कि दासता की बेड़ियों में जकड़ने के लिए। प्लिनी (Pliny) ने ट्राजन (Trajan) से कहा था कि “यदि हमारे पास एक युवराज है तो वह हमें एक दूसरा स्वामी प्राप्त करने से बचाने के लिए है।”

स्वतंत्रता-प्रेम के विषय में राजनीतिज्ञ उसी प्रकार वितंडावाद में प्रसन्न रहते हैं जैसे कि दार्शनिकगण प्राकृतिक अवस्था के विषय में। अत्यन्त भिन्न वस्तुओं पर जिनको उन्होंने कभी देखा भी नहीं है, जितना वह देखते हैं उसी के अनुसार निर्णय करते हैं और कहते हैं कि मनुष्य को एक नैसर्गिक प्रवृत्ति दासता के लिए प्रेरित करती है क्योंकि दास उनके पर्यवेक्षण में बड़े सन्न के साथ भार ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं। वह यह विचार करना मूल जाते हैं कि स्वतंत्रता के साथ भी वही बात होती है जो निर्दोषिता एवं सद्गुणों के साथ होता है अर्थात् उनका मूल्य केवल वही आँक सकते हैं जो उन्हें रखते हैं और जबकि वे स्वयं अपहृत हो जाते हैं तो उनकी इच्छा भी अपहृत हो जाती है। ब्रेसीडैस (Brasidas) ने एक क्षत्रप (Satrap) से, जो स्पार्टा के जीवन की तुलना पर्सीपोलिस (Perse Polis) के जीवन से कर रहा था, कहा :—“मैं तुम्हारे देश का आकर्षण जानता हूँ परन्तु तुम मेरे आह्लादों को नहीं जान सकते।”

बेसघा घोड़ा अपने अयाल (लम्बे बालों को) खड़ा करता है, पैरों से जमीन खोदता है, और लगाम के संकेत पर प्रचण्डता से चौंक पड़ता है परन्तु जो सही रूप से साधा गया है वह सन्न के साथ चाबुक तथा एड़ (काँटा) को सहन करता है। इसी भाँति बर्बर मानव उस जुए को वहन करने के लिए कभी गर्दन नीची नहीं करता जिसके सम्मुख सम्य मनुष्य बिना किसी बड़बड़ाहट के समर्पण कर देता है; वह बर्बर स्वतंत्रता की अत्यन्त भयंकर स्थिति को अत्यन्त शान्त दासता से अधिक रुचिकर समझता है। ऐसी स्थिति में हम गुलाम राष्ट्रों की गुलामी से दासता के पक्ष या विपक्ष में मानव जाति की नैसर्गिक अभिरुचि के विषय में कोई निर्णय नहीं कर सकते। हमें तो विभिन्न स्वतंत्र राष्ट्रों वा जातियों के अन्याय से बचने के लिए किये गये आश्चर्यजनक प्रयत्नों से पथ-प्रदर्शन ग्रहण करना चाहिए। मैं यह जानता हूँ कि प्रथम वर्ग तो सदैव इसके पक्ष में है कि उस शांति की प्रतिष्ठा बनी रहे जिसका वह दासता की बेड़ियों में उपभोग करते हैं और उस

निकृष्ट दासता की स्थिति को वे शांति की अवस्था कहते हैं।¹ परन्तु जब मैं द्वितीय वर्ग को अपना आनन्द, शांति, धन और जीवन भी केवल उस एक निधि के संरक्षण के निमित्त त्याग करते हुए देखता हूँ, जिसको त्यागने वाले अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखते हैं; जब मैं स्वतंत्र जन्मजात पशुओं को, बन्दागृह के स्वाभाविक बेसब्रेपन के कारण अपने सिर को पिंजड़े की छड़ों से फोड़ डालते हुए देखता हूँ; जब मैं असंख्य नग्न बर्बरों को युरोपीय आमोद-प्रमोद को घृणा की दृष्टि से देखते हुए तथा क्षुधा, अग्नि, तलवार और मृत्यु का सामना करते हुए भी अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए सचेष्ट देखता हूँ, तो अनुभव करता हूँ कि स्वतंत्रता के विषय में गुलामों को तर्क करने का कोई अधिकार नहीं है।

पैतृक सत्ता के सम्बन्ध में, जिससे कुछ लेखकों ने निरंकुश शासन और समस्त समाज का उद्गम खोज निकाला है, यह कहना पर्याप्त है कि लाक (Locke) और सिडनी (Sidney) के परस्पर-विरोधी तर्कों को बिना लौटे पृथिवी पर निरंकुशतावाद की डरावनी प्रवृत्ति से बढ़कर और कोई चीज उस प्रभुत्व की कोमलता से ज्यादा दूर नहीं हो सकती, जो उस व्यक्ति के लाभ का अधिक ध्यान रखती है जो आज्ञा देता नहीं, आज्ञा मानता है। प्रकृति के नियम के अनुसार, पिता बालक का स्वामी उसी समय तक रहता है जब तक उसे उसकी सहायता की आवश्यकता रहती है। उस समय से जब दोनों समान हैं, पुत्र पिता से पूर्णतः स्वतंत्र हो जाता है और पिता केवल उसके सम्मान का पात्र रह जाता है न कि आज्ञा-कारिता का। कृतज्ञता एक ऐसा कर्तव्य है जो चुकाया जाना चाहिए, न कि एक ऐसा अधिकार जो बलपूर्वक माँगा जा सकता है। बजाय इसके कि हम कहें कि पैतृक सत्ता से शिष्ट समाज का उद्गम है, हमें कहना चाहिए कि पैतृक सत्ता ने अपनी प्रधान शक्ति समाज से उपलब्ध की। कोई व्यक्ति कभी अनेक का पिता नहीं समझा गया जबतक कि उसके लड़के व लड़कियाँ उसके चारों ओर न बसे हों। पिता की चल सम्पत्ति जिसका कि वह वास्तव में स्वामी है, उसका सम्बन्ध बच्चों की निर्भरता के रूप में बनाये रहती है। यदि वह चाहे तो उनको सम्पत्ति का कोई भाग तब तक प्रदान न करे जब तक कि वे अनवरत रूप से उसकी इच्छानुसार न चलें। परन्तु एक निरंकुश आतंकवादी की प्रजा अपने अधिनेता से ऐसा लाभ नहीं प्राप्त

1. Tacitus, Hist. iv 17. The most wretched slavery they call peace, "Miserrimam servitutem pacem appellant."

कर सकती, क्योंकि प्रजा स्वयं और प्रत्येक वस्तु जो उनके अधिकार में थी, उसी (अधिनेता) की सम्पत्ति थी। इसलिए वे केवल वही लाभ प्राप्त करने के लिए बाध्य थे, जितना कि वह अपने में से उनके लिए छोड़ने को उद्यत हो। जब वह उनका पूर्ण रूप से अपहरण करता है तो वह केवल न्याय करता है और यदि वह उन्हें जीवित रहने देता है तो उन पर केवल दया करता है।

इस प्रकार यदि हम वास्तविक तथ्य की अधिकार से परीक्षा करेंगे, तो हम उसके लिए उतना ही कम तर्क खोज सकेंगे जितना निरंकुशता की स्वतः स्थापना में सत्य का होता है। जबकि समस्त संकट केवल एक ही पक्ष में है और दूसरे में कुछ नहीं तथा अनुबन्ध करनेवाले व्यक्ति को छोड़कर कोई कष्ट न भोगेगा, तब यह भी प्रमाणित करना एक सरल कार्य नहीं होगा कि एक अनुबन्ध केवल एक ही पक्ष पर लागू होगा। यह घृणास्पद प्रणाली निश्चय ही, आधुनिक युग में भी, विद्वान एवं भले शासकों, विशेषतः फ्रांस के राजाओं की नीति से परे थी जैसा-कि उनकी राजाज्ञाओं के कई अनुच्छेदों में देखा जा सकता है; विशेष रूप में लुई चतुर्दश (Louis XIV) की ओर से १६६७ ई० में प्रसारित राजाज्ञा के प्रसिद्ध निम्नांकित अनुच्छेदों से यह स्पष्ट हो जायगा :—

“इसलिए ऐसा कभी न कहा जाय कि सम्राट राज्य के नियमों के अधीन नहीं है। क्योंकि इसका विरोधी सिद्धान्त राष्ट्रों के अधिकार का सच्चा कर्तव्य-निर्देश है, जिसका कभी-कभी चाटुकारिता ने विरोध किया है परन्तु अच्छे राजाओं ने अपने अधिराज्यों की रक्षा करनेवाले दैवी अधिकार के रूप में, सदा उसकी रक्षा की है। बुद्धिमान प्लेटो के साथ यह कहना कितना अधिक न्यायसंगत है कि एक राज्य का सम्पूर्ण सुख प्रजा के राजा की आज्ञा मानने में और राजा के कानूनों के अधीन होने में तथा कानूनों के न्यायपूर्ण एवं लोकतंत्र की भलाई में लगातार रत रहने में ही है।”

मैं यहाँ इस बात की जाँच करने के लिए अधिक नहीं रुकूँगा कि यदि स्वतंत्रता मानव की सर्वश्रेष्ठ आन्तरिक शक्ति है—और यदि हम उन पशुओं के स्तर पर उतर आते हैं जो अन्तःप्रेरणा के एकदम दास हैं तो वह हमारे जीवन के निर्माता के प्रति अनादर स्वरूप है, और ऐसा करके हम उस (परमात्मा) के अत्यन्त मूल्यवान

१. Of the rights of the most Christian queen over various states of the monarchy of Spain, 1667.

उपहारों को निःसंकोच त्याग देते हैं और समस्त अपराध करने की आवश्यकता के सम्मुख केवल इसलिए सिर झुका देते हैं कि एक पागल अथवा कोई क्रूर स्वामी को सन्तोष होगा। क्या यह स्वयं अपनी प्रकृति का अपमान करना नहीं होगा ?

यदि मेरे विरोधी खुश हों तो मैं बारबेयरक (Barbeyrac) की प्रामाणिकता का भी त्याग कर दूँगा जो लॉक (Locke) का अनगमन करते हुए पर अस्पष्ट रूप में यह घोषित करता है कि कोई मनुष्य इस सामाजिक अपनी स्वतंत्रता नहीं बेच सकता कि एकाधिकारी शक्ति के सम्मुख इतना आत्मसमर्पण कर दे कि वह जिस प्रकार चाहे उसका प्रयोग करे। वह यह भी कहता है कि “इसका तात्पर्य तो खुद अपने जीवन को भी बेच देना है, जिसका वह स्वयं स्वामी नहीं है।” मैं केवल यह पूछूँगा कि उन व्यक्तियों को जो स्वयं को इस प्रकार तिरस्कृत करने से भयभीत नहीं थे, क्या अधिकार था कि वे अपनी सन्तान को भी वही अपमान सहन करने के लिए बाध्य करते और उनके लिए उन आशीर्वादों का त्याग कर देते जिनके लिए कि वे अपने पूर्वजों की उदारता के अनुग्रहीत नहीं थे और जिनके बिना स्वयं जीवन उन सबके लिए भारस्वरूप हो जाता जो उसके योग्य थे ?

पफेन्डोर्फ (Puffendorf) का कथन है कि हम अपनी स्वतंत्रता अन्य पुरुषों के पक्ष में उसी भाँति हस्तान्तरित कर सकते हैं जैसेकि हम अपनी सम्पत्ति को एक से दूसरे को समझौते द्वारा हस्तान्तरित करते हैं। परन्तु यह तर्क बड़ा दुर्बल प्रतीत होता है क्योंकि पहिले तो जो सम्पत्ति मैं त्यागता हूँ वह मुझसे विलकुल भिन्न हो जाती है और मैं उसके दुष्प्रयोग से कुछ भी हानि नहीं उठाता हूँ। परन्तु इस वस्तु से मेरा निकटतम सम्बन्ध है कि मेरी स्वतंत्रता का दुष्प्रयोग न हो और मैं अपने को अपराधों का साधन न बन जाने दूँ। इसके अतिरिक्त चूँकि सम्पत्ति का अधिकार केवल एक मानवी संस्था की परम्परा मात्र है इसलिए मनुष्य अपनी अधिकृत सम्पत्ति को जैसे चाहे त्याग सकते हैं। परन्तु प्रकृति के प्रधान उपहारों उदाहरणार्थ जीवन एवं स्वतंत्रता के विषय में, यह सत्य नहीं है क्योंकि उनका उपभोग करने की प्रत्येक व्यक्ति को आज्ञा है और उनके विषय में यह सन्देह नहीं है कि उनसे अपने को पृथक् करने का भी अधिकार किसी को है। एक को त्यागने से हम अपने अस्तित्व से पतित होते हैं, दूसरे को छोड़कर हम उसे मिटा देने का प्रयत्न करते हैं। और चूँकि कोई ऐहिक लाभ हमें दोनों में से किसी की हानि का मुआवजा नहीं दे सकता, इसलिए यह तर्क एवं प्रकृति दोनों के ही प्रति अपराध होगा कि चाहे जिस मूल्य पर उन्हें त्याग दिया जाय। परन्तु यदि हम सम्पत्ति की

भांति ही अपनी स्वतंत्रता का हस्तान्तरण भी करते हैं तो बच्चों के विषय में बहुत बड़ा अंतर हो जायगा जो कि पिता के अंशाधिकार का हस्तान्तरण से उपभोग करते हैं; स्वतंत्रता एक ऐसा उपहार है जिसे मनुष्य मनुष्य होने के नाते प्रकृति से पाता है, इसलिए उनके माता-पिता को उस अधिकार से उन्हें वंचित करने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसी दशा में दासता को स्थापित करने में, प्रकृति के प्रति हिंसा करना परमावश्यक था। ऐसे अधिकार को चिरस्थायी बनाने के लिए प्रकृति को परिवर्तित होना पड़ेगा। जिन विधिशास्त्रियों ने, गंभीरता से यह निर्णय लिया है कि एक दास की सन्तान संसार में दास के रूप में जन्म लेती है, उन्होंने दूसरे शब्दों में यह निश्चय किया है कि मानव विश्व में मानव के रूप में प्रविष्ट नहीं होगा।

ऐसी दशा में मेरा निश्चित मत है कि शासन तानाशाही शक्ति से आरम्भ नहीं हुआ। यह शासन की दूरस्थ परिभाषा का विकृत रूप है और अन्त में उसे उसी अत्यन्त बलवान की स्वेच्छा वाले नियम की ओर लौटा देता है जिसे कि सुधारने के निमित्त मूलरूप से उसका जन्म हुआ था। मान लीजिए कि इसका श्रीगणेश इसी भांति हुआ, तब ऐसी शक्ति स्वयं ही अवैध थी और वह समाज के कानूनों का और फलस्वरूप उसके द्वारा निर्मित असमानता का आधार नहीं बन सकती थी।

इस समय उन खोजों में प्रविष्ट हुए बिना जो समस्त प्रकार के शासनों के सारभूत पारस्परिक संविदाओं के स्वरूप के बारे में होनी शेष हैं, मैं तत्सम्बन्धी साधारण लोकमत को ग्रहण करके सन्तोष करता हूँ। और राजनैतिक संस्था, की स्थापना को प्रजा और उनके द्वारा चुने गये प्रधानों के मध्य एक वास्तविक अनुबन्ध के रूप में देखता हूँ; एक ऐसा अनुबन्ध जिसके द्वारा दोनों पक्ष उसमें अभिव्यक्त नियमों का पालन करने का प्रण करते हैं और वही उनके संघ की ग्रन्थि बन जाता है। प्रजा ने अपने सामाजिक सम्बन्धों के विषय में अपनी इच्छाओं को एक में केन्द्रित किया। जिन विभिन्न धाराओं में यह इच्छा स्पष्ट की गयी है, वही मूलभूत विधि या कानून बन जाते हैं जो बिना किसी अपवाद के राज्य के सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य होते हैं। उनमें से एक धारा उन दंडाधिकारियों के चयन तथा उनके अधिकारों का नियमन करती है जो शेष पर नियमों के लागू होने की निगरानी करते हैं। यह अधिकार उन सब कार्यों तक व्यापक है जो एक संविधान को स्थायी बना सकते हैं सिवाय इसके कि खुद विधान में कोई संशोधन करे। कानून तथा उनके शासकों को सम्मानित कराने के निमित्त यह उपाधियों

से सम्बद्ध रहता है। मन्त्री भी अपने विशेष व्यक्तिगत अधिकारों से, इसलिए सम्पन्न रहते हैं कि सुशासन के लिए किये जाने वाले श्रम एवं चिन्ता की उनके द्वारा कुछ पूर्ति हो जाती है। दंडाधिकारी अपनी ओर से उस अधिकार का बैसा ही प्रयोग करने की प्रतिज्ञा करता है जैसी संविधान निर्माताओं की इच्छा है, — इस ध्येय से कि उन सबकी उपलब्धियों को शांतिमय अधिकार से स्थिर बनायें और प्रत्येक अवसर पर सार्वजनिक लाभ को अपने लाभ के ऊपर रखें।

जब अनुभव ने यह दर्शाया, अथवा मानवी हृदय के ज्ञान ने मनुष्य को ऐसे संविधान के अपरिहार्य दोषों को जानने योग्य बनाया, उसके पहिले तो वह और अच्छा प्रतीत हुआ होगा, क्योंकि जो उसके परिरक्षण का भार ग्रहण किये हुए थे, वे स्वयं उसमें बड़ी रुचि रखते थे। क्योंकि दंडाधिकारियों की संस्था तथा उससे सम्बद्ध अधिकार मौलिक नियमों पर आधारित थे, और उनकी समाप्ति के साथ ही दंडाधिकारियों का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता था। उसके बाद जनता भी उनकी आज्ञा मानने के लिए बाध्य न रह जाती और चूंकि दंडाधिकारियों से नियम एक राज्य के लिए अधिक आवश्यक हैं, इसलिए इस राज्य के सदस्यगण अपनी नैसर्गिक स्वतंत्रता के अधिकार को पुनः प्राप्त कर लेते।

यदि हम इस विषय पर सदैव की भाँति जरा कम ध्यान से विचार करें तो इस सत्य की पुष्टि में हम नवीन तर्क पायेंगे, और अनुबन्ध के स्वरूप से ही विश्वास कर लेंगे कि वह अटल नहीं हो सकता। क्योंकि यदि अनुबन्धकर्त्ताओं की निष्ठा को स्थिर करने के योग्य कोई महत्तर शक्ति नहीं थी, अथवा उन्हें पारस्परिक समझौतों का पालन कराने की क्षमता उनमें नहीं थी तो अपने मामलों में दल का स्वयं ही निर्णायक हो जाना अनिवार्य था। जैसे ही एक पक्ष को ज्ञात हो जाय कि दूसरे ने अनुबन्ध की अवहेलना की है अथवा वे अब उसकी सुविधा की पूर्ति करने में असमर्थ हैं तो उस हालत में प्रत्येक को अनुबन्ध समाप्त करने का सदा अधिकार रहेगा। यही वह सिद्धान्त है जिसपर संभवतः पदच्युति के अधिकार का आधार होगा। ऐसी स्थिति में अब यदि हम केवल इस बात पर ध्यान दें कि इस संस्था में क्या मनुष्योचित है, तो इतना निश्चय है कि यदि दंडाधिकारी, जिसके हाथ में सब अधिकार हैं और जो अनुबन्ध के सभी लाभ अपनी स्वार्थ-पूर्ति में बलपूर्वक लगाता है, को अपनी सत्ता त्यागने का अधिकार है तो जन-साधारण को, जो अपने अधिनेता के सभी दोषों का भार वहन करते हैं, अपनी निर्भरता त्यागने का कहीं अधिक अधिकार होना चाहिए।

परन्तु ऐसे खतरनाक विशेषाधिकार से जो असंख्य एवं भयावह विवाद व विप्लव उत्पन्न होंगे, वे किसी भी अन्य बात से अधिक यह दर्शाते हैं कि मानवी शासन को केवल तर्क के अतिरिक्त कितने ठोस आधार की आवश्यकता थी और जनशांति के लिए यह कितना सुविधाजनक था कि ईश्वरीय इच्छा सर्वप्रभुता-सम्पन्न सत्ता को धार्मिक एवं अनुलंघनीय स्वरूप प्रदान करने के लिए इस प्रकार हस्तक्षेप करती कि प्रजा अपना अधिकार त्यागने के घातक अधिकार से वंचित हो जाती। यदि विश्व ने (अभी तक) धर्म से कोई अन्य लाभ नहीं उठाया तो मनुष्यों पर उस (धर्म) को ग्रहण करने व उसे सुसंस्कृत करने का कर्तव्य थोपना पर्याप्त होगा क्योंकि धर्मोन्माद ने जितना रक्त आज तक बहाया है उससे ज्यादा रक्त बचाने का यह साधन रहा है। परन्तु हमें सर्वप्रथम अपनी कल्पना का अनुसरण करने दीजिए।

शासन की विभिन्न प्रणालियाँ असमानता की उन भिन्न-भिन्न मात्राओं से उत्पन्न हैं जो नागरिकों के मध्य उनके (शासन प्रणालियों के) जन्म के समय वर्तमान थी। यदि उनके मध्य कोई ऐसा व्यक्ति था जो अधिकार, गुण, धन अथवा व्यक्तिगत प्रभाव में सर्वोच्च था, तो वही एकमात्र दंडाधिकारी हो गया और राज्य ने राजतंत्रीय बाना ग्रहण किया। यदि इस प्रकार की प्रधानता समान स्तर के कई ऐसे लोगों में थी जो सामान्यजन से ऊपर उठे हुए थे तो वे सब संयुक्त रूप से चुन लिये जाते थे और वे कुलीनतंत्र (Aristocracy) स्थापित कर लेते थे। पुनश्च, उन प्रजागणों में जो प्राकृतिक अवस्था से बहुत ही कम डिगे थे और जिनके सौभाग्य अथवा विशेष गुणों में कहीं कम विषमता थी, वहाँ सर्वोच्च प्रशासन सार्वजनिक रूप से बना रहा और प्रजातंत्र स्थापित हुआ। कालान्तर में पता चला कि इन प्रणालियों में से मनुष्यों के लिए कौन सी सब से उपयुक्त है। कुछ लोग पूर्णतया कानूनों का पालन करते रहे; अन्य शीघ्र ही दंडाधिकारियों की आज्ञा मानने लगे। नागरिकों ने अपनी स्वतंत्रता स्थापित रखने के लिए प्रयास किया। प्रजाओं ने दूसरों को अपने द्वारा खोये हुए प्रसादों का आनन्द लूटते हुए देख कर ईर्ष्या की, और पड़ोसियों को दास बनाने की बात सोची। संक्षेप में, एक ओर विजय-अभियान तथा धन, और दूसरी ओर सुख तथा सद्गुण उत्पन्न हुए।

उपर्युक्त विभिन्न शासन प्रणालियों में, पहिले सभी पद चुनाव से भरे जाते थे और जब धनी-वर्ग का प्रभाव नहीं के बराबर था तो योग्यता को जो नैसर्गिक

उत्कृष्टता देती है, अधिक प्रतिष्ठा दी गयी। इसी प्रकार वयोवृद्धता को भी वरीयता मिली क्योंकि उसमें व्यवसाय का अनुभव और मंत्रणा की स्पष्टता होती है। यहूदियों (Hebrews) में ज्येष्ठ सदस्य (The Elders), स्पार्टा (Sparta) में गिरोटेज (Gerontes), रोम में सीनेट (The Senate), जो कि हमारे सेगन्योर (Seigneur) शब्द की उत्पत्ति का स्रोत है, का होना दर्शाता है कि ज्येष्ठता या वयोवृद्धता एक समय आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। परन्तु प्रायः वृद्ध पुरुषों का चयन होता था, चुनाव बार-बार करने पड़ते थे और फलस्वरूप वे आपत्तिकारक सिद्ध होते थे। षड्यंत्र आरम्भ हो जाते थे, दलबन्दी होती थी, दलगत भावना कटु हो जाती थी, गृह-युद्ध आरम्भ हो जाते थे, व्यक्तियों का जीवन राज्य की दिखावटी प्रसन्नता पर न्यौछावर कर दिया जाता था, यहाँ तक कि मानव अपनी आदिम अराजकता को प्रत्यावर्तित होने की स्थिति तक पहुँच जाते थे। ऐसी परिस्थिति से लाभ उठाकर महत्त्वाकांक्षी मुखियाओं ने अपने ही परिवारों में उच्च पदों को सुरक्षित कर लिया; और उधर प्रजागण, जो पहले से ही अपनी बेड़ियों को तोड़ने में असमर्थ थे, और निर्भरता, आराम एवं जीवन की सुविधाओं के अभ्यस्त थे, केवल शांति-लाभ करने के ध्येय से, अपनी दासता की वृद्धि के लिए सहमत हो गये। इस प्रकार दंडाधिकारियों ने पैतृक अधिकार पा लेने के पश्चात् अपने पदों को पारिवारिक सम्पत्ति के समान और अपने को उन जातियों के स्वामी समझने की आदत ग्रहण कर ली जिनके कि वे शुरू में केवल पदाधिकारी थे। वे अपने सहनागरिकों को अपने दास समझने लगे, उन्हें पशुओं की भाँति अपनी चल-सम्पत्ति में गिनने लगे और स्वयं को देवों के समान और राजाधिराज सम्बोधित करने लगे।

यदि हम इन विभिन्न क्रान्तियों में असमानता की प्रगति का पर्यवेक्षण करें तो ज्ञात होगा कि कानूनों की व्यवस्था एवं सम्पत्ति का अधिकार इसकी प्रथम कालावधि थी, दंडाधिकारियों के पदों की स्थापना द्वितीय, और न्याय-संगत अधिकार का निरंकुश अधिकार में परिवर्तन तीसरी व अंतिम। धनिकों एवं दरिद्रों की स्थिति को प्रथम अवधि ने अधिकृत बताया, शक्तिशाली एवं दुर्बल को द्वितीय ने और स्वामी व दास की दशा को तृतीय ने, जो कि असमानता की अंतिम स्थिति है और ऐसी कालावधि है जिसमें शेष सब वर्तमान रहते हैं। यह स्थिति तब तक रहती है जब तक कि शासन नवीन क्रान्तियों द्वारा पूर्णतया विलीन नहीं हो जाता अथवा न्यायसंगत अवस्था में पुनः प्रत्यावर्तित नहीं हो जाता।

इस प्रगति को आवश्यक समझने के लिए हमें राजनैतिक संस्था की स्थापना के उद्देश्यों को इतना विचार में नहीं लाना चाहिए जितना कि उन आकारों को जो वह वास्तव में ग्रहण करती है और दोषों को जो अनिवार्य रूप से उसके साथ रहते हैं, क्योंकि जो त्रुटियाँ सामाजिक संस्थाओं को अनिवार्य बनाती हैं वे वही हैं जो उनके दुष्प्रयोग को अपरिहार्य कर देती हैं। यदि हम स्पार्टा के (Sparta) को छोड़ दें जहाँ कि कानून अधिकांशतः बच्चों की शिक्षा से ही सम्बन्ध रखते थे और जहाँ लाइकुरगस (Lycurgas) ने ऐसे सदाचरण की स्थापना की थी जिसने कानूनों को लगभग निरर्थक बना दिया था, क्योंकि कानून निश्चय ही, मनोवेगों से दुर्बल होने के कारण मनुष्यों को बिना परिवर्तित किये उन पर रोक लगाते हैं। यह प्रमाणित करना कठिन नहीं होगा कि प्रत्येक शासन-प्रणाली जिसने सूक्ष्मता के साथ वांछित लक्ष्यों का पालन किया और सावधानी से परिवर्तन और भ्रष्टाचार से रक्षा की, व्यर्थ ही स्थापित की गयी थी। क्योंकि ऐसे देश को, जिसमें न किसी ने कानूनों की अवहेलना की और न दंडाधिकारियों के अधिकारों का दुष्प्रयोग किया, न तो कानूनों की और न ही दंडाधिकारियों की आवश्यकता हो सकती थी।

राजनैतिक विभेद अनिवार्यतः सामाजिक विभेद उत्पन्न करते हैं। व्यक्तियों को प्रधानों और प्रजागणों में बढ़ती समानता का अनुभव होने लगता है। तब वह समानता मनोवेगों, योग्यताओं और परिस्थितियों से सहस्रों प्रकार से संशोधित होती रहती है। दंडाधिकारी, बिना उन प्राणियों को विशेषता प्रदान किये जिनके साथ वह हिस्सा बँटाता है, कभी अवैध प्रभुता को ग्रहण करने की चेष्टा नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त व्यक्ति अपने को केवल उस सीमा तक दलित होने देते हैं जहाँ तक कि अंधी महत्वाकांक्षा उन्हें तेजी से धकेल कर ले जाती है। वे ऊपर देखने की अपेक्षा नीचे देखते हुए, सत्ता को स्वतंत्रता से अधिक स्नेह करने लगते हैं और दासता के सम्मुख समर्पण इसलिए कर देते हैं जिससे वे स्वयं दूसरों को दास बना सकें। ऐसे मनुष्य को आज्ञाकारी बनाना सरल कार्य नहीं है जिसमें आदेश देने की अर्थात् प्रभुता की कोई महत्वाकांक्षा नहीं है; सबसे निपुण राजनीतिज्ञ के लिए भी यह संभव न होगा कि वह ऐसी जनता को दास बनाये जिसकी एकमात्र इच्छा स्वतंत्र रहने की है। परन्तु असमानता उन डरपोक एवं महत्वाकांक्षी मस्तिष्कों को सरलता से प्रभावित करती है जो वैभव के संकटों को बराबर झेलने को प्रस्तुत रहते हैं और जिन्हें इसकी कोई परवाह नहीं है कि

वे आज्ञा देते हैं अथवा आज्ञा का पालन करते हैं, या यह कि पक्ष में हैं अथवा विपक्ष में। इसलिए एक ऐसा समय रहा होगा जब प्रजा की दृष्टि ऐसी भुग्ध हो गयी होगी कि उनके शासकों का कम से कम व्यक्तियों से यह कथन कि "तुम और तुम्हारे वंशज, सभी महान् हों," उन्हें प्रत्येक व्यक्ति की दृष्टि में अथवा स्वयं की दृष्टि में भी श्रेष्ठ दर्शाने के लिए पर्याप्त था। ऐसे व्यक्ति के वंशजों ने अपने ऊपर इस कल्पित श्रेष्ठता का और अधिक भार लाद लिया। जितना अनिश्चित और अंधकारमय कारण होता है उतना ही अधिक उसका प्रभाव होता है; एक परिवार में जितने अधिक आलसी व्यक्ति कोई गिन सकता था, उतना ही प्रसिद्धि-प्राप्त वह परिवार समझा जाता था।

यदि इस स्थान पर विस्तार से विचार करना ठीक होता तो मैं शीघ्रता से यह स्पष्ट कर देता कि जैसे ही उनके केवल एक समाज में संगठन ने आपस में एक दूसरे की तुलना करने का अवसर दिया और वे विभिन्नताएं उनके ध्यान में आयीं जो प्रत्येक मनुष्य को अपने पड़ोसी^१ के साथ अनवरत आदान प्रदान-करने

१. विभाजक-न्याय प्राकृतिक अवस्था की अत्यन्त कठोर समानता का विरोध करना चाहेगा, चाहे वह शिष्ट समाज में ही क्यों न व्यवहृत होती। चूंकि राज्य के सभी सदस्य अपनी योग्यता तथा विशेष बुद्धि के अनुपात में ही सेवाओं का अवसर पाते हैं, इसलिए जो सेवाएं उन्होंने वास्तव में प्रतिपादित कीं, उनके अनुपात में उन्हें बिशिष्टता और सम्मान मिलना ही चाहिए। इसी अर्थ में हमें आइसोक्रेटीज (Isocrates) के उस अनुच्छेद का अर्थ ग्रहण करना चाहिए जिसमें कि वह आदिम एथेन्स निवासियों (Athenians) की प्रशंसा करता है क्योंकि उन्होंने यह निश्चित कर लिया था कि दोनों प्रकार की समानता में कौन सबसे उपयोगी है अर्थात् वह जो समस्त नागरिकों में बिना भेदभाव के सम्पूर्ण लाभों को विभाजित करने को सहमत होती है अथवा जो कि प्रत्येक को उसके अच्छे या बुरे गुणों के अनुसार वितरित करती है। वक्ता के कथनानुसार विद्वान् राजनीतिज्ञों ने उस न्यायहीन असमानता को बहिष्कृत करके, जो अच्छे व बुरे मनुष्यों में कोई भेदभाव नहीं करती थी, अनुल्लंघनीय रूप से उसको दृढ़ किया जो प्रत्येक मनुष्य को उसके गुणानुसार पुरस्कृत करती अथवा दण्डित करती।

परन्तु सबसे पहली बात तो यह कि ऐसा समाज कभी विद्यमान नहीं रहा, चाहे कुछ लोग कितने ही भ्रष्ट क्यों न हो गये हों, जिसमें कि अच्छे व बुरे का

से उसे दिखायी न पड़ती थीं वैसे ही शासन के हस्तक्षेप बिना भी साख एवं अधिकार की असमानता व्यक्तिगत जनों में अपरिहार्य हो गयी।

ये अन्तर विभिन्न प्रकार के हैं परन्तु चूँकि समाज में मनुष्य एक दूसरे की तुलना वैभव, कुलशील, अधिकार और व्यक्तिगत क्षमता जैसी प्रधान विशिष्टताओं से करता है इसलिए मैं प्रमाणित कर सकता हूँ कि इन विभिन्न शक्तियों का सामंजस्य अथवा संघर्ष ही किसी राज्य के अच्छे या बुरे संविधान का निश्चित चिह्न है। मैं यह दिखा सकता हूँ कि इन चार प्रकार की असमानताओं में व्यक्तिगत गुण तो अन्य सभी के स्रोत-रूप हैं परन्तु शेष में धन-वैभव ही ऐसा है जिसमें अन्त में सभी लय हो जाते हैं। क्योंकि जो धन अत्यन्त शीघ्रता से व्यक्तिगत समृद्धि को बढ़ाता है तथा अत्यन्त सरलता से संचरित हो सकता है, वही प्रत्येक अन्य विशिष्टता को भी क्रय करने में प्रयुक्त होता है। इस पर्यवेक्षण से हम ठीक-ठीक निर्णय ले सकने योग्य हो जाते हैं कि राष्ट्र अपने आदिम संविधान से कितना दूर चला गया है और चरमसीमा के भ्रष्टाचार की अवधि की ओर कितना अग्रसर हो गया है। मैं यह स्पष्ट कर सकता हूँ कि कीर्ति, सम्मान, उन्नति की सार्वभौम इच्छा, जो हम सबको उत्तेजित करती है किस सीमा तक हमारे अधिकारों, एवं

भेद-भावन रहा हो और जहाँ तक सदाचरण का संबंध है ऐसी कोई स्थिति कहीं नहीं रही जिससे कानून द्वारा कोई ऐसे अधिनियम निर्धारित किये जा सकते जो दंडाधिकारियों के लिए व्यावहारिक नियम का कार्य करते और उसे अपने विवेक के अनुसार नहीं बल्कि नागरिकों के गुणावगुण के अनुसार निर्णय करने देते। केवल प्राचीन रोम निवासियों के सदाचरण—जैसे आचरण रखनेवाले ही गुण व दोष-निरीक्षण को सहन कर सकते थे और इस प्रकार का न्यायाधिकरण हमारे मध्य सभी वस्तुओं को गड़बड़ी में डाल देता। अच्छे या बुरे मनुष्यों में अन्तर सार्वजनिक मर्यादा से निश्चित होता है। दंडाधिकारी केवल अधिकार का ही निर्णायक होता है। अतएव प्रजा सदाचार का सबसे अच्छा न्यायाधीश है और उसमें इस विषय पर ऐसी सत्यशीलता और तीव्र बुद्धि होती है कि वह कभी भ्रष्ट नहीं हो पाती यद्यपि कभी-कभी धोखा अवश्य खा जाती है। इसलिए नागरिकों के समुदाय को अपनी व्यक्तिगत क्षमता से शासित नहीं होना है, क्योंकि इसके कारण दंडाधिकारी नियम को मनमाने ढंग से लागू करने लगेंगे। राज्य के प्रति प्रदत्त वास्तविक सेवाओं के आधार पर ही उसका निर्णय अधिक अच्छा होगा।

शक्तियों को प्रभावित करती और तुलना के लिए सामने रखती है; कैसे यह हमारे मनोवेगों को उत्तेजित एवं गुणित करती है, तथा मनुष्यों में सार्वभौम प्रतियोगिता एवं प्रतिद्वंद्विता बल्कि शत्रुता, उत्पन्न कर एक ही रास्ते पर अनेक महत्वाकांक्षियों को दौड़ा कर असंख्य सफलताओं-असफलताओं तथा हर प्रकार के उपद्रव का मौका लाती है। मैं यह दर्शा सकता हूँ कि अच्छी से अच्छी तथा खराब से खराब वस्तुओं की प्राप्ति के लिए चारों ओर प्रसिद्धि की इस इच्छा, और अपने को दूसरों से भिन्न दिखाने की निरन्तर लालसा के ही प्रति हम ऋणी हैं। हमारे गुण-दोष, हमारे विज्ञान तथा त्रुटियाँ, हमारे विजेता तथा हमारे दार्शनिक, कहने का तात्पर्य यह है कि बहुत बड़ी संख्या में बुरी वस्तुएँ और कुछ अच्छे पदार्थों के लिए हम उसी के ऋणी हैं। संक्षेप में मैं प्रमाणित कर सकता हूँ कि चन्द धनी एवं शक्तिशाली मनुष्य, सौभाग्य तथा वैभव के शिखर पर हैं जबकि अथाह जन-समूह अभाव एवं अंधकार में पड़ा हुआ अपने दिन काट रहा है। केवल इसलिए कि प्रथम उन्हीं चीजों का आनंद लेते हैं और उनका मूल्य समझते हैं जिनसे अन्य लोग वंचित रहते हैं। जैसे ही जनसमूह दयनीय होने से इन्कार कर देंगे, उन धनवानों का आनन्द भी समाप्त हो जायगा।

ये विस्तृत व्याख्याएँ ही अकेली ऐसी बहुत बड़ी कृति के लिए विषयसामग्री प्रस्तुत करेंगी, जिसमें प्रत्येक प्रकार की शासन-प्रणाली के लाभ तथा दोष आँके जायें। इसमें इन सरकारों के साथ प्राकृतिक अवस्था में रहनेवाले मनुष्य के सम्बन्ध का निदर्शन कराया जा सकता है। साथ ही उन सब विभिन्न पहलुओं का जिक्र किया जा सकता है जिसके नीचे आज तक असमानता प्रकट होती रही है या आने वाले युगों में प्रकट हो सकती है। ये असमानताएँ कई प्रकार की सरकारों की प्रकृति तथा उनमें समय-समय पर हुए परिवर्तनों के अनुसार होती हैं। तब तो हम जन-समुदाय को आन्तरिक वेदना से उन्हीं सावधानियों के कारण पीड़ित पाते जिन्हें कि उसने विदेशी निष्ठुर शासन से आरक्षित होने के लिए लिया था। हम अत्याचार को उत्तरोत्तर बढ़ते हुए देखते और पीड़ितों को यह पता न चल पाता कि अत्याचार का अन्त कहाँ होगा अथवा उसकी प्रगति को रोकने के लिए कौन से न्यायसंगत साधन शेष रह गये हैं। शनैः शनैः हम नागरिकों के अधिकारों को, राष्ट्रों की स्वतन्त्रता को, लुप्त होते हुए तथा दुर्बलों की शिकायतों, विरोध की घोषणाओं और प्रार्थनाओं को राजद्रोही असन्तोष की ध्वनियाँ समझते देखते। कूटनीति द्वारा हम सार्वजनिक हित की सुरक्षा के गौरव को राष्ट्र

के भाड़े के सैनिकों वाले अंश तक ही सीमित पाते। ऐसे साधनों-द्वारा हम करों को अनिवार्य होता देखते और हताश खेतिहर को अपने खेतों को त्यागने तथा शांति के युग में भी हल छोड़कर तलवार ग्रहण करते हुए पाते। हम घातक, मायावी तथा हास्यास्पद सम्मान-संहिता की स्थापना होते पाते और देश के वीर नायकों को देर-सवेर से शत्रु बन जाते हुए देखते जो सदैव अपने सहचर नागरिकों के वक्षस्थल पर छुरा ताने रहते। ऐसा समय आयेगा जबकि उन्हें हम देश के अत्याचारी के प्रति निम्नांकित संबोधन करते हुए पायेंगे —

*Pectore si fratris gladium juguloque parentis
Condere me jubeas goavidacque in viscera partu
Conjuigis, invita peragam tamen omnia dextra*

(Lucan i, 376).

बस 'जिसकी लाठी उसकी भेंस' वाली उक्ति चरितार्थ होती है, सबसे प्रबल के कानून की अवस्था पुनः आ जाती है और जिस प्राकृतिक अवस्था से श्रीगणेश हुआ था उससे एकदम नवीन एवं भिन्न प्राकृतिक अवस्था उत्पन्न होती है। क्योंकि प्रथम प्राकृतिक अवस्था अपनी प्रथम पवित्रता में थी जबकि यह अत्यधिक भ्रष्टाचार का प्रतिफल है। अन्य विषयों में दोनों स्थितियों में इतना कम अन्तर है और शासन का अनुबन्ध, स्वेच्छाचारिता-द्वारा इस पूर्णता के साथ समाप्त कर दिया जाता है कि स्वेच्छाचारी उसी समय तक स्वामी बना रह सकता है जब तक कि वह शक्तिशाली रहता है; जैसे ही वह निकाले जाने की स्थिति में आ जाता है तो उसे हिंसा की शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। लोकतन्त्रीय विप्लव, जिसका अन्त किसी सुलतान की हत्या या पदच्युति में होता है, इतना ही विधिसम्मत कार्य है जितना कि एक दिन पहिले उसके द्वारा अपनी प्रजा के भाग्य एवं जीवन का निर्णय करना था। चूँकि वह सैनिक बल पर ही आधारित था, इसलिए सैनिक शक्ति ही उसे पदच्युत करती है। अस्तु, प्रत्येक वस्तु प्राकृतिक क्रम के अनुसार घटित होती है और ऐसी बार-बार घटित होने वाली तथा उतावली क्रान्तियों का चाहे जो परिणाम हो, कोई मनुष्य केवल अपने दुर्भाग्य अथवा अविवेक के अतिरिक्त दूसरे के अन्याय की शिकायत नहीं कर सकता।

यदि पाठक इस प्रकार खोये तथा भुलाये हुए मार्ग को पुनः स्मरण करके खोज निकालता है, जिससे मानव प्राकृतिक अवस्था को पारकर सामाजिक अवस्था की ओर अग्रसर हुआ होगा; यदि वह चतुराई से मध्यवर्ती परिस्थितियों के

साथ जिनका मैंने अभी वर्णन किया है, उन स्थितियों को पुनः जीवित करता है जिन्हें समयाभाव के कारण मैं दबाने के लिए बाध्य था, अथवा जिन्हें मेरी कल्पनाशक्ति प्रस्तावित करने में असफल रही, तो वह दोनों स्थितियों को एक दूसरे से अलग करनेवाले विशाल अन्तर को देखकर अचम्भे में पड़े बिना नहीं रह सकता। इस मन्दगति वाले अनुक्रम को खोजने से ही वह राजनीति तथा सदाचार-सम्बन्धी अनेक समस्याओं का हल निकाल लेगा, जो दार्शनिक भी निश्चित नहीं कर पाते। वह यह अनुभव करेगा, कि विभिन्न युगों में मनुष्य के भिन्न होने के कारण ही, डायोजेनीज (Diogenes) एक मानव न खोज पाया। बात यह थी कि वह समकालीन मनुष्यों में उससे पहिले काल का एक मनुष्य ढूँढता था। वह यह देखेगा कि कैटो रोम तथा उसकी स्वतंत्रता के साथ मर गया क्योंकि वह जिस युग में रहता था उसके साथ समन्वय न कर सका। मनुष्यों में सौभाग्य तथा परिस्थितियों की महती असमानता से, मनोवेगों और प्रतिभाओं की विस्तृत विविधताओं से, व्यर्थ और अपकारक कलाओं से, झूठे विज्ञानों से, प्रतिकूलताओं का एक ऐसा समूह उत्पन्न होगा जो समान रूप से विवेक, सुख और सद्गुणों का विरोधी होगा। हम दंडाधिकारियों को प्रत्येक ऐसे कार्य में उत्तेजना देते हुए पायेंगे जो समाज में संगठित मनुष्यों को, उनमें फूट पैदा करके दुर्बल कर दें—प्रत्येक ऐसी वस्तु जो वास्तविक विभाजन के बीज बोये, यद्यपि देखने में समाज को सामंजस्य प्रदान करे; प्रत्येक ऐसी वस्तु जो जनसमूह के विभिन्न वर्गों में एक दूसरे के विरुद्ध ऐसे अधिकारों तथा हितों को तथा पारस्परिक अविश्वास और घृणा को उत्पन्न कर दे और इस प्रकार सबको समेट लेने वाली शक्ति को बलवान बना दे।

ऐसे विप्लव तथा क्रान्तियों के मध्य से ही स्वेच्छाचारी शासन शनैः शनैः अपना बीमत्स मस्तक ऊँचा करते तथा प्रत्येक ऐसी वस्तु को निगलते हुए, जो राज्य के किसी भी भाग में स्वस्थ और निष्कलंक रह गयी हो, अन्ततोगत्वा कानून तथा राष्ट्र दोनों को कुचल डालता और गणतंत्र के अवशेषों पर अपने को स्थापित कर लेता है। इस अंतिम परिवर्तन के एकदम पहले जो समय आता है वह अत्यन्त विपदा एवं संकट का युग होता है। परन्तु अन्त में यह दैत्य सबको हड़प कर जाता है और जनता को निरंकुश शासकों के अतिरिक्त न मुखिया उपलब्ध होते हैं, न कानून। इस जमाने से सद्गुण अथवा सदाचार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि स्वेच्छाचारी शासन, जहाँ कहीं भी प्रचलित होता है वह अन्य किसी प्रभु को स्वीकार

नहीं करता। जैसे ही वह बोलता है, कर्तव्य तथा नैतिक प्रतिष्ठा अपना प्रभाव खो देती हैं और अन्धी आज्ञाकारिता ही केवल ऐसा गुण रह जाता है जिसको दास भी प्रयोग में ला सकते हैं।

यह असमानता की कालावधि का अंतिम चरण है—वह अंतिम बिन्दु जो वृत्त को पूर्ण करता है और उससे मिल जाता है, जहाँ से उसका श्रीगणेश हुआ था। यहाँ सभी व्यक्तिगत प्राणी (प्राइवेट परसंस) अपनी प्राथमिक समानता को लौट जाते हैं क्योंकि वस्तुतः वे कुछ नहीं हैं। प्रजा के सम्मुख सिवाय स्वामी की इच्छा के कोई नियम नहीं है और उनके स्वामी पर मनोवेगों के अतिरिक्त कोई प्रतिबन्ध नहीं है; फलतः सद्गुण की सभी धारणाएँ और स्वामाविक न्याय के सिद्धान्त पुनः विलुप्त हो जाते हैं। सर्वश्रेष्ठ ने ऐसे विश्व को आश्चर्यचकित करने के लिए सेवा की, जिसके ऊपर वह शासन करता यदि ५०० वर्ष पहले हुआ होता। संक्षेप में, वह स्पष्ट करेगा किस भाँति मनुष्य की आत्मा और मनोवेग उसके अज्ञान में ही उसका स्वभाव बदल देते हैं; क्योंकि हमारी आवश्यकताएँ और आमोद-प्रमोद अन्त में नवीन पदार्थों को खोजते हैं; और आदिम पुरुष के धीरे-धीरे नष्ट हो जाने के कारण, समाज हमारे सम्मुख केवल एक कृत्रिम मानवों का समुदाय और नकली मनोवेग प्रस्तुत करता है जो इन समस्त नवीन सम्बन्धों का परिणाम है और प्रकृति में उनकी कोई वास्तविक नींव नहीं है। इस विषय में चिन्तन, मनन द्वारा हमें कोई ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती जो पर्यवेक्षण द्वारा पूर्णतः समर्थित न हो। बर्बर और सम्य मनुष्य अपनी अन्तरात्मा तथा अपनी प्रवृत्तियों में इतने भिन्न होते हैं कि जिस एक मनुष्य के निरतिशय सुख का निर्माण होता है वही दूसरे को हतोत्साह कर देता है। पहिला तो केवल शांति तथा स्वतंत्रता की साँस लेता है; वह तो केवल श्रम से मुक्त तथा जीवित रहने की इच्छा करता है, यहाँ तक कि स्टोइक की 'अतरेक्षिया' (Ataraxia) भी उसकी प्रत्येक अन्य पदार्थ के प्रति गंभीर उदासीनता से कही दूर रह जाती है। दूसरी ओर सम्य पुरुष सदैव सक्रिय, परिश्रमरत, पसीना बहानेवाला और अधिक से अधिक परिश्रम वाले व्यवसाय खोजने में अपने मस्तिष्क को कुरेदता है। वह अंतिम क्षण तक अपने धन्वे में लगा रहता है और कभी-कभी तो जीवित रहने के लिए मृत्यु का

१. Stoic स्टोइक: एथेन्स के दार्शनिक जीनो का शिष्य जो सुख-दुःख को समान समझनेवाला था तथा वैरागी एवं विरक्तमार्गी था।

आवाहन तक करता है अथवा अमरत्व प्राप्त करने के लिए जीवन त्याग देता है। वह अधिकारी वर्ग के ऐसे पुरुषों के प्रति भी सम्मान दिखाता है जिन्हें वह वस्तुतः घृणा करता है और ऐसे धनिकों का भी आदर करता है जिन्हें वह तिरस्कृत समझता है; वह उनकी सेवा करने का सम्मान प्राप्त करने के लिए कुछ भी करने से नहीं चूकता; उसको अपनी नीचता और उनकी रक्षा के आधार पर भी अपना मूल्य आँकने में लज्जा नहीं आती है और अपनी दासता पर गर्व करते हुए वह उनको घृणा की दृष्टि से देखता है जो उसका साथ नहीं देते। एक करीबियन^१ (Caribbean) के सम्मुख एक यूरोपीय राज्य-मन्त्री के भ्रमकारी और ईर्ष्या करने योग्य श्रम क्या दृश्य प्रदर्शित करेंगे? वह आलसी बर्बर ऐसे जीवन की बीमत्सता के सामने, जो कभी दूसरों की भलाई करने के सुख से उल्लसित न हो, कितनी ही निर्भय हत्याओं को पसंद करेगा! परन्तु इस सब एकाकीपन के लक्ष्यों का तात्पर्य समझने योग्य होने के लिए उसके मस्तिष्क में 'अधिकार' और 'प्रसिद्धि' शब्दों का कुछ अर्थ होना चाहिए; उसे यह जानना होगा कि ऐसे भी कुछ मनुष्य हैं जो अपने से पृथक् संसार के मत का भी कुछ मूल्य समझते हैं और जो अपने नहीं बल्कि दूसरों के प्रमाण द्वारा सुखी और संतुष्ट बनाये जा सकते हैं। वास्तव में इन सभी अन्तरों का मूल स्रोत यह है कि बर्बर अपने ही में लीन रहता है। जबकि सामाजिक मानव अनवरत रूप से अपने से बाहर रहता है और केवल यही जानता है कि दूसरों के मतानुसार किस भाँति रहा जा सकता है; यहाँ तक कि वह अपने अस्तित्व की चेतना भी अपने संबंध में दूसरों के मतों से प्राप्त करता है। यह मेरे वर्तमान प्रयोजन के अन्तर्गत नहीं है कि भलाई और बुराई के प्रति उदासीनता पर, जो सदाचार के अनेक सुन्दर कार्यों के बावजूद भी, ऐसे स्वभाव से उत्पन्न होती है, बल दें; अथवा यह दिखावा कि किस भाँति, प्रत्येक वस्तु जब आभासों में परिवर्तित हो जाती है तो सम्मान, मित्रता, सद्गुण और कभी-कभी स्वयं दोष में भी, जिससे अन्ततोगत्वा हम गर्वोक्ति का रहस्य सीखते हैं, केवल चालाकी तथा स्वांग रह जाता है, संक्षेप में यह दिखावा कि किस भाँति दूसरों से लगातार पूछा जाता है कि हम क्या हैं और अपने से पूछने का कभी साहस नहीं किया जाता कि इतने तत्त्वज्ञान, मानवता और सभ्यता

१. Caribbean (Caribbean) : A Carib of America कैरब अमेरिका का आदिवासी ; केंद्रीय और दक्षिण-उत्तरी अमेरिका की एक जाति।

तथा सदाचार की इतनी भव्य संहिताओं के मध्य, हमारे पास दिखाने के लिए एक ओछे तथा कपटी रूप के सिवा और क्या है? सम्मान है किन्तु बिना सद्गुण के, तर्क है बिना विवेक के, आमोद है बिना सुख के। इतना ही पर्याप्त है कि मैंने प्रमाणित कर दिया कि यह मनुष्य की मूल अवस्था नहीं है, वरन् यह केवल समाज की भावना है और वह असमानता है जो समाज उत्पन्न करता है और इस प्रकार हमारी नैसर्गिक अभिरुचियों का रूपान्तरण करता तथा उन्हें पूर्णतः बदल देता है।

मैंने असमानता के उद्गम तथा उसकी प्रगति को खोजने का प्रयास किया है और राजनैतिक संस्थाओं की उत्पत्ति और दुष्प्रयोग का भी, जहाँ तक कि वे उन पवित्र सिद्धान्तों से स्वतंत्र है जो सम्राट या सर्वप्रभुता-सम्पन्न सत्ता को दैवी अधिकार की स्वीकृति देते हैं। और मानव प्रवृत्ति से केवल तर्क की ज्योति द्वारा निकाले जाने के योग्य हैं इस सर्वेक्षण से यह फल निकलता है कि चूंकि प्राकृतिक अवस्था में असमानता लेशमात्र भी नहीं होती, आजकल जो भी असमानता प्रचलित है, वह अपनी शक्ति तथा विकास के लिए हमारे संकायों (Faculties) के विकास और मानवी मस्तिष्क की उत्तरोत्तर उन्नति पर निर्भर है और अन्त में वह सम्पत्ति और कानून की स्थापना स्थायी और न्याय-संगत हो जाती है। दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि नैतिक असमानता, जो केवल निश्चयात्मक सत्ता से अधिकृत है, जब भी भौतिक असमानता के अनुपात में नहीं रहती तो प्राकृतिक अधिकार से टक्कर खाती है। यह एक ऐसा अन्तर है, जो पर्याप्त रूप से निर्णीत करता है कि हमें उस असमानता की प्रजाति के विषय में क्या सोचना चाहिए जो समस्त सभ्य देशों में प्रचलित है, क्योंकि यह स्पष्ट रूप से प्रकृति के नियमों के विरुद्ध है, फिर चाहे कितनी ही निश्चित क्यों न हो, यह अन्तर कि बच्चे बूढ़ों को और मूर्ख विद्वानों को आदेश दें, और कुछ विशेषाधिकार-प्राप्त लोग वैभव और वाहुल्य के बीच लोटें, जबकि क्षुधाग्रस्त जनसमुदाय जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति से भी वंचित हो।

परिशिष्ट^१

एक प्रसिद्ध लेखक मानवी जीवन के सद्गुणों और दोषों की परिगणना तथा उनकी समष्टियों की तुलना करने से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि हमारी पीड़ाएँ हमारे सुखों से बहुत ज्यादा हैं। अस्तु, सभी चीजों पर विचार करने से यह मानव-जीवन एक अमूल्य उपहार प्रतीत नहीं होता। इस निष्कर्ष से मुझे आश्चर्य नहीं होता क्योंकि लेखक ने सभी तर्क सभ्य मनुष्य के जीवन पर से लिये हैं। यदि लेखक प्राकृतिक अवस्था पर भी चिन्तन करता तो उसकी खोज का फल बिलकुल भिन्न निकलता और यह स्पष्ट हो जाता कि मनुष्य ऐसे बहुत कम दोषों से ग्रस्त है जो उसके द्वारा सृजित नहीं हैं। हमें अपने को इतना दुखी एवं अभिशप्त बनाने के लिए, जितने कि हम हैं, वास्तव में कम कष्ट नहीं उठाने पड़े हैं। जब एक ओर हम मानव जाति की असीम श्रमपूर्णता तक पहुँचाये गये, विभिन्न विज्ञान, आविष्कृत कलाएँ, प्रयुक्त अधिकार, भरे गये गर्त, घराशायी किये गये पर्वत, टूक-टूक कर दी गयी चट्टानें, नौका द्वारा संतरण योग्य बना दी गयीं नदियाँ, साफ़ किये गये भूखंड, रिक्त कर दी गयी झीलें, सुखाये गये दलदल, पृथिवी पर निर्मित असंख्य भवन और समुद्रों पर छाए हुए पर्याप्त जहाज इत्यादि पर विचार करें, और दूसरी ओर थोड़े ही चिन्तन से, उन वास्तविक लाभों का मूल्यांकन करें, जो इन सब कार्यों से मानव जाति को हुए हैं, तो हम इन दोनों के मध्य अनुपात की बृहत् विषमता पर आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रह सकते। मनुष्य के उस दीवाने-पन पर दुःख होता है जो उसके मूर्खतापूर्ण गर्व तथा निरर्थक आत्म-प्रशंसा को तृप्त करने के लिए, उसे उन समस्त क्लेशों का उत्सुकता से पीछा करने के लिए प्रेरित करता है जिनको वह अनुभव करने में समर्थ है यद्यपि उपकारी प्रकृति ने उन्हें उसके मार्ग से दूर रखा था।

एक दुःखद और अनवरत अनुभव निःसन्देह यह प्रमाणित करता है कि मनुष्य वास्तव में बुरा है। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मैंने यह दर्शा दिया है कि मनुष्य

नैसर्गिक रूप से भला है। तब सिवाय उन परिवर्तनों के जो उसके स्वभाव में हुए हैं, सिवाय उस उन्नति के जो उसने की है और सिवाय उस ज्ञान के जो उसने उपार्जित किया है, और किस चीज़ ने इस सीमा तक उसे भ्रष्ट कर दिया है ? हम मानव समाज की जितनी चाहें प्रशंसा कर सकते हैं परन्तु उसके बाद भी यह सत्य रहेगा कि वह मनुष्यों को एक दूसरे के प्रति उसी अनुपात में घणा करने के लिए अग्रसर करता है जिसमें कि उनके हित आपस में टकराते हैं। मनुष्य एक दूसरे को कृत्रिम सेवाएँ प्रदान करते हैं, यद्यपि वे वास्तव में कल्पना में आने-वाली हर प्रकार की दुष्टता कर रहे होते हैं। ऐसे सम्बन्ध के लिए क्या कहा जा सकता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का स्वार्थ ऐसे नियम आदेशित करता है जो उनके बिल्कुल विपरीत होते हैं जिन्हें सार्वजनिक तर्क सामान्यतः जाति के लिए निर्धारित करता है और जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने पड़ोसी के दुर्भाग्य में अपना लाभ देखता है ? संभवतः सुखप्रद स्थिति में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जिसके लालची उत्तराधिकारी न हों या ऐसी सन्तान नहीं है जो गुप्त रूप से उसकी मृत्यु न चाहती हो; समुद्र पर ऐसा कोई जहाज नहीं जिसकी हानि किसी न किसी सौदागर के लिए लाभप्रद सूचना न हो, ऐसा कोई भवन नहीं जिसे कोई न कोई बेईमान ऋणी उसके समस्त कागजपत्रों के साथ राख में मिल जाने से प्रसन्न न हो, ऐसा कोई राष्ट्र नहीं जो अपने पड़ोसियों पर घटित आपदाओं से आह्लादित न हो। इस प्रकार हम सब अपने सहचर प्राणियों के दुर्भाग्य में अपना लाभ दूढ़ते हैं, और एक मनुष्य की हानि सदैव दूसरे की समृद्धि बन जाती है। परन्तु यह और भी हेय है कि सार्वजनिक विपदाएँ असंख्य व्यक्तियों की आशाओं एवं आकांक्षाओं का ध्वेय बन जाती हैं। कुछ लोग चाहते हैं, कुछ मृत्यु, कुछ युद्ध और कुछ अकाल। मैंने ऐसे दुष्टों को भी देखा है जो समृद्धिदायक ऋतु (अर्थात् अच्छी फसल होने) की आशाओं पर भी दुःख से विलाप करते हैं। लन्दन के भयानक और घातक अग्नि-कांड ने एक ओर अनेक दुःखी व्यक्तियों के जीवन एवं भाग्य को खतम कर दिया, दूसरी ओर उसी ने अन्य दस हजार के भाग्य को चमका दिया। मैं यह जानता हूँ कि मोनतेन ने एथेन्स निवासी दिमाडीस (Demades the Athenian) पर ऐसे श्रमिक को दंड देने का आरोप लगाया जो शवपेटियों को महंगा बेचकर अपने सह-नागरिकों की मृत्यु से बहुत लाभान्वित हुआ था। मानतेन के इस तर्क से कि प्रत्येक को दंड मिलना चाहिए, मेरे दृष्टिकोण की स्पष्ट रूप से पुष्टि हो जाती है। इसलिए हम परोपकार के वाद्य आडम्बरो के अन्दर पैरों और देखें

कि हृदय के अन्तरतम गुह्य स्थान में क्या होता है। हमें इस पर विचार करना चाहिए कि जब मनुष्य एक ही समय में एक दूसरे का दुलार एवं विनाश करने के लिए बाध्य होते अथवा जब वे कर्तव्यवश जन्मजात शत्रु और स्वार्थ के कारण घूर्त हों तब क्या स्थिति होगी? संभवतः यह कहा जायगा कि समाज इस भाँति बना है कि प्रत्येक मनुष्य शेष की सेवा करने से लाभान्वित होता है। यह बड़ा ही अच्छा होता, यदि वह दूसरों को हानि पहुँचाकर और अधिक लाभान्वित नहीं होता। कोई भी न्यायसंगत लाभ इतना बड़ा नहीं है कि अवैध तरीके से प्राप्त लाभ-उससे बहुत ज्यादा न बढ़ जाय। हम सदैव पड़ोसियों का भला करने की अपेक्षा उनको हानि पहुँचाने से अधिक लाभ उठाते हैं। सिर्फ इतना जानना चाहिए कि अपने को खतरे में डाले बिना काम कैसे किया जा सकता है और इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए शक्तिशाली अपनी सारी शक्ति और दुर्बल अपनी सारी चालाकी लगा देते हैं।

बर्बर मनुष्य जब भोजन कर लेता है तो समस्त प्रकृति के अनुकूल रहता है और अपने सभी सह-प्राणियों का मित्र बन जाता है। यदि भोजन के विषय में कोई विवाद खड़ा हो जाता है तो वह पहले अपने शत्रु को पराजित करने की कठिनाई की ओर और दूसरे स्थान पर जीवन निर्वाह का साधन उपलब्ध करने का कष्ट उठाने की तुलना किये बिना गुत्थमगुत्था नहीं करता। और चूँकि गर्व रूकावट नहीं डालता, दो चार प्रहारों से ही विवाद तय हो जाता है, विजेता भोजन पाता है, पराजित अपना भोजन कहीं और ढुंढता है और चारों ओर शांति हो जाती है। परन्तु समाज में मनुष्य की स्थिति बिल्कुल भिन्न होती है, जिसके लिए पहिले न्यूनतम आवश्यकताओं, तत्पश्चात् फालतू चीजों का प्रबन्ध करना पड़ता है, फिर स्वाद और सुकुमारता की वस्तुएँ आती हैं तब असीमित धन, तब प्रजा और अन्त में दास। वह एक क्षण भी चैन से आनन्द नहीं ले सकता और उससे भी आश्चर्य की बात है कि जितनी कम नैसर्गिक एवं अनिवार्य उसकी आवश्यकताएँ होती हैं उतने ही स्वेच्छाचारी उसके मनोवेग होते हैं, और इससे भी निकृष्ट बात तो यह है कि उन्हें सन्तुष्ट करने की शक्ति भी उसमें होती है, तात्पर्य यह कि समृद्धि की एक लम्बी अवधि के पश्चात् अर्थात् कोषों को निगल जाने तथा जनसमूहों का सर्वनाश करने के उपरान्त, नायक अन्त में सबका गला काटने लगता है, यहां तक कि अंत में अपने को विश्व का एकमात्र प्रभु पाता है। यह है सूक्ष्मरूप में सदाचार की झाँकी, यदि मानव जीवन की नहीं तो कम से कम सभ्य मनुष्य के हृदय की गुह्य कपट-कामनाओं की तो अवश्य।

बिना किसी पक्षपात के एक नागरिक की अवस्था की तुलना बर्बर से करो और यथाशक्ति खोज करो कि नागरिक ने अपने दोषों, आवश्यकताओं और दुर्भाग्यों के अतिरिक्त वेदना एवं मृत्यु को कितने अवसर प्रदान किये हैं। यदि तुम उन मानसिक वेदनाओं पर चिन्तन करो जो हमें अपना शिकार बनाती हैं, उन हिंसात्मक मनोवेगों पर सोचो जो हमें निरर्थक तथा श्रान्त बनाते हैं, उस अत्यधिक श्रम पर विचार करो जो दरिद्रों पर भार डाले हुए है; इनसे भी अधिक उस आलस्य पर जिसको घनिकगण आत्म-समर्पण किये हुए हैं, केवल इस ध्येय से कि दरिद्र आवश्यकताओं के कारण और धनी पेटपन से नष्ट हो जायें; यदि तुम एक पल भी भोजन के विभिन्न मिश्रणों, मसालों और स्वादवर्धक सामग्रियों और जिस विकृत अवस्था में वे खायी जाती हैं उन पर विचार करो, इसी प्रकार यदि तुम औषधियों की मिलावट पर, उनको बेचनेवालों के छल-कपट पर, उनकी त्रुटियों पर जो उन्हें रोगियों को देते हैं और उन विपैले बर्तनों पर जिनमें वे बनायी जाती हैं सोचो; यदि तुम असंख्य मनुष्यों के जमघट के कारण दूषित वायु के फलस्वरूप उत्पन्न महामारी पर, अथवा उन बीमारियों पर जो हमारी कोमल जीवन-प्रणाली से उत्पन्न होती हैं, या हमारे अपने घरों से खुली हवा में जाने तथा वापिस आने से या अपने वस्त्रों को न्यूनतम सतर्कता के साथ धारण करने या उतार फेंकने से या उन सब सावधानियों से जिनको इन्द्रिय-सुख ने आवश्यकीय आदतों में परिवर्तित कर दिया है और जिस विषय में लापरवाही कभी-कभी हमारे स्वास्थ्य अथवा जीवन के लिए घातक हो जाती है ध्यान दो; यदि तुम उन भूचालों तथा अग्निकांडों को ध्यान में लाओ जो समस्त नागरिकों को निगलते हुए अथवा उन पर हावी होते हुए सहस्रों निवासियों का विनाश कर देते हैं; संक्षेप में यदि तुम उन सभी विपदाओं को एकत्र करो जिनके द्वारा ये संकट हमें सदैव डराते रहते हैं तो तुम देखोगे कि प्रकृति कितनी कठोरता से उस घृणा के लिए दंड देती है जिससे हम उसके उपदेशों को ठुकराते हैं।

युद्ध की आपदाओं के विषय में अन्य प्रसंगों में जो मैं कह चुका हूँ उसे यहाँ नहीं दोहराऊँगा, परन्तु आशा करता हूँ कि जिन्हें पर्याप्त जानकारी है वे सेनाओं में, अस्पतालों तथा रसद पहुँचाने वाले विभाग में, ठेकेदारों द्वारा की जानेवाली हर प्रकार की दुष्टताओं के विवरण को जनता के सम्मुख प्रसारित करने का साहस करेंगे। हमें स्पष्ट रूप से यह देखना चाहिए कि इस प्रकार के विलक्षण प्रपंच, जो किसी भी भाँति छिपाये नहीं छिपते और अल्प समय में जो अच्छी से अच्छी सेनाओं

को शक्तिविहीन कर देते हैं, वे सैनिकों का शत्रु की तलवार से कहीं अधिक विनाश करते हैं।

समुद्र पर वर्ष भर में जितने आदमी दुर्मिक्ष, स्कर्वी (शीताद)^१, समुद्री डाकू, अग्नि और जहाजों के डूबने से मर जाते हैं वे एक अन्य दुःखद परिगणना के लिए सामग्री प्रस्तुत करते हैं। हत्याओं, विष देने की दुर्घटनाओं, सार्वजनिक डकैतियों तथा ऐसे अपराधों के लिए दुष्टों को दिये गये उस दण्ड का भी श्रेय सम्पत्ति की स्थापना और फलस्वरूप समाज की व्यवस्था को ही है जो यद्यपि और अधिक बड़े दोषों को रोकने में लामप्रद हैं, परन्तु एक हत्या के फलस्वरूप दो मनुष्यों का नाश कराने के कारण मानव जाति की दुगुनी हानि करते हैं।

जन्मनिरोध करने के लिए कभी-कभी कितने लज्जास्पद तरीके प्रयोग में लाये जाते हैं जो अपनी पाशविक और विकृत बुभुक्षा के कारण प्रकृति को घोखा देते और उसकी सबसे सुन्दर कृति का अपमान करते हैं—बुभुक्षाएँ जो बर्बरों एवं पशुओं के लिए अज्ञात हैं और जो केवल सम्य देशों में दूषित कल्पना द्वारा ही उत्पन्न हो सकती हैं। भ्रष्टाचार और आचरण के विकृत विचारों के परिणामस्वरूप होनेवाले गुप्त गर्भपात, अथवा नन्हें बच्चों के समूह की हत्या जो अपने माँ-बाप की दरिद्रता या अपनी माताओं की निर्दय लज्जा का शिकार बन जाते हैं; अथवा अन्त में उन दुखी जीवों का अंगच्छेदन, जिनके जीवन का अंश भविष्य की आशा के साथ, निरर्थक गायन अथवा उससे भी खराब अन्य पुरुषों की क्रूर स्पर्धा के सम्मुख त्याग दिया जाता है; एक ऐसा अंगभंग जो प्रकृति के विरुद्ध दोहरी हिंसा है—उनके प्रति व्यवहार के कारण जो हानि उठाते हैं और उस प्रयोजन के कारण जिसके लिए वे भाग्य द्वारा निर्देशित हैं। परन्तु क्या यह हजारगुना अधिक प्रचलित और अधिक खतरनाक नहीं है जो पैतृक अधिकार के लिए मानवता के विरुद्ध खुल्लम-खुल्ला किया जाता है? पिताओं के अनुचित नियंत्रणों के कारण कितनी प्रतिभाएँ नष्ट नहीं कर दी गयीं और कितनों की रुचियाँ बदल नहीं दी गयीं? कितने मनुष्य ऐसे होंगे जो एक उपयुक्त क्षेत्र में अपनी विशिष्टता प्राप्त करते परन्तु दूसरे ऐसे क्षेत्र में असम्मानित तथा बुरी स्थिति में मरे, जिसके लिए उनकी अभिरुचि नहीं

(१) एक प्रकार का रक्तरोग जो रक्त में पीष्टिक पदार्थ के अभाव के कारण होता है और जिसमें शरीर में चकत्ते पड़ जाते हैं। साधारणतः समुद्री जहाजों पर यह रोग होता है।

थी। कितने ऐसे सुखी परन्तु असमान वैवाहिक सम्बन्ध विच्छिन्न हो गये हैं और कितनी पतिव्रता नारियाँ ऐसी व्यवस्था के कारण भ्रष्ट हो गयीं जो बराबर प्रकृति की अवस्था के विपरीत रहीं? कितने ऐसे अच्छे व सद्गुणी पति-पत्नी परस्पर इसलिए दण्डित हुए हैं कि वे ठीक तरह से चुने नहीं गये थे। अपने माता-पिता की धन-लिप्सा के शिकार हुए कितने दुखी युवक पाप की ओर उन्मुख हो जाते हैं अथवा अपने हतोत्साही दिनों को, ऐसे स्थिर बंधनों में विवश बँधे हुए बिलखते व्यतीत करते हैं; जो उनके हृदय अस्वीकार करते हैं तथा जो केवल स्वर्ण के लोभ से निर्मित हुए हैं। उनमें कभी-कभी कुछ भाग्यशाली निकल आते हैं जिन्हें इससे पहले कि अमानवी हिंसा उन्हें अपराधों में अथवा निराशा में जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य करे, साहस और सद्गुण जीवन से उठा लेते हैं। माता-पिता मुझे क्षमा करें, जिनके प्रति मैं सदैव अनुताप प्रकट करूँगा; मेरी शिकायत आपके दुःखों को तीक्ष्ण करती होगी; परन्तु हो सकता है कि वह प्रत्येक ऐसे व्यक्ति के सामने जो प्रकृति का नाम लेकर उसके पवित्रतम अधिकार की अवहेलना करने का साहस करता है, एक भयंकर और शाश्वत आदर्श बन जाय।

यदि मैंने केवल ऐसे अमागे बंधनों की ही चर्चा की है जो हमारी प्रणाली का प्रतिफल हैं तो इससे क्या यह सोचा जा सकता है कि जिन पर प्रेम तथा सहानुभूति का राज्य है, वे दोषों से वंचित है? क्या मैं यह दिखाने का भार लूँ कि मानवता अपने उद्गम में ही आक्रान्त है—समस्त बंधनों में सबसे पवित्र में भी, जहाँ भाग्य का ध्यान प्रकृति से अधिक रखा जाता है और समाज की अव्यवस्थाएँ सभी गुण-दोषों का तिरस्कार करती है, इंद्रिय दमन एक आपराधिक चौकसी का रूप धारण कर लेता है और एक साथी प्राणी को जीवनदान न देना एक मानवीय कार्य समझा जाता है? परन्तु इन सब बीभत्सताओं को छिपानेवाले परदे को हटाये बिना, हम केवल उस युगई की ओर संकेत करते हैं जिसका सुधार दूसरों को करना पड़ेगा।

इन सबमें उन अलाभप्रद व्यवसायों की बहुतायत को जोड़िए जो मनुष्य को अल्पायु करते या उनके शरीरों का नाश करते हैं; जैसे कि खानों में कार्य करना, धातुओं और खनिज पदार्थों, विशेषतः जस्ता, ताँबा, पारा, कोबाल्ट और संखिया

१. विच्छिन्न के समान एक प्रकार का कठोर, चमकदार, भूरे रंग का धातुयुक्त तत्त्व जो लोहे और निकल के समान होता है और दूसरी धातुओं से मिश्रित करके काम में लाया जाता है। यह आन्टेरियो में कोबाल्ट नगर के समीप की खानों से निकला जाता है।

का निर्माण। इनके अतिरिक्त और कई ऐसे भयानक व्यवसाय हैं जो प्रतिदिन खेतिहरों, बढ़इयों, राजगीरों और खान में काम करनेवालों के लिए घातक होते हैं। इन सबको यदि मिला दें तो हम समाज की स्थापना और परिपक्वता में अपनी प्रजाति के उस ह्रास को देख सकते हैं जिस पर अनेक दार्शनिकों का ध्यान जा चुका है।

ऐसे मनुष्यों में भोगविलास नहीं रोका जा सकता, जिनकी अपनी सुविधा के विषय में तथा दूसरों द्वारा प्रदत्त सम्मान के सम्बन्ध में घोर आसक्ति है। विलासिता उस दोष को शीघ्र ही पूर्ण कर देती है जिसे समाज ने आरम्भ किया था और दरिद्रों को भोजन देने के बहाने, जिन्हें उसे ऐसा कभी बनाना नहीं चाहिए था, शेष को भी शोषित करती है और शीघ्र या देर में राज्य को जनहीन कर देती है। विलासिता ऐसी औषधि है जो उस रोग से भी खराब है जिसकी चिकित्सा करना चाहती है। स्वयं अपने में भी प्रत्येक छोटे-बड़े राज्य के लिए सबसे बड़ी बुराई है क्योंकि अपने पैदा किये समस्त सेवकों तथा गुण्डों का पालन करने के लिए यह श्रमिक तथा नागरिक का उत्पीड़न तथा सर्वनाश करती है। यह उस झुलसा देने वाले झंझावात की भाँति है जो वृक्षों एवं पौधों को उनको चट कर जानेवाले कीड़ों से भर देता है और उपयोगी पशुओं की जीविका का अपहरण कर लेता है और जिधर जिधर बहता है वहाँ मृत्यु तथा अकाल का प्रसार करता चलता है।

समाज से तथा उससे उत्पन्न विलासिता से ही उदार और यांत्रिक कलाएँ, वाणिज्य, व्यापार, साहित्य और वे सभी बाह्य आडम्बर पैदा होते हैं जो उद्यम को उन्नत करके, धन बढ़ाकर राष्ट्रों का सर्वनाश करते हैं। ऐसे विनाश का कारण स्पष्ट है। कृषि की प्रकृति में ही यह बात आसानी के साथ देखी जा सकती है कि वह समस्त कलाओं में सबसे कम लाभदायक है क्योंकि सबसे अधिक सार्वभौम आवश्यकता की चीज होने के नाते, उसकी उपज का मूल्य अनुपाततः मानव जाति के दरिद्र से दरिद्र व्यक्ति की सामर्थ्य के अनुसार होना चाहिए।

इसी सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्यतः कम उपयोगी कलाएँ अनुपात में अधिक अर्थकरी होती हैं और अन्त में जो सबसे उपयोगी होती हैं वही सबसे उपेक्षित हो जाती हैं। इससे हम यह सीख सकते हैं कि उद्यम के वास्तविक लाभ तथा उसकी उन्नति के वास्तविक प्रभावों के सम्बन्ध में क्या सोचना चाहिए?

समस्त कष्टों के ऐसे ही विवेकपूर्ण कारण होते हैं जिनमें ऐश्वर्य सर्व-प्रसिद्ध

राष्ट्रों को अन्त में सीधे ही ढकेल देता है। जिस अनुपात में कला तथा उद्यम फलते-फूलते हैं, तिरस्कृत कृषक, विलासिता के समर्थन में लगाये गये करों के भार से त्रस्त और श्रम एवं क्षुधा से अपने दिन काटने के लिए अभिशप्त अपने पैतृक खेतों को छोड़कर नगरों में रोटियों की तलाश में जाने के लिए बाध्य होता है—उस नगर में जहाँ उसे खुद रोटि ले जानी थी। बड़े-बड़े नगर हमारी भोड़ी आँखों को जितना ही आकर्षित करते हैं परित्यक्त खेतों का ख्याल कर उतना ही दुःख होता है। उधर बड़े-बड़े भूखंड बिना जोते बोये रह जाते हैं और इधर सड़कें उन अभाग्य नागरिकों से भरी रहती हैं, जो भिखमंगों या डाकूओं में बदल गये हैं और कूड़ा-करकट के टीले या फाँसी के तख्ते पर अपने अभाग्य जीवन का अन्त करने के लिए अभिशप्त हैं। इस प्रकार राज्य एक ओर समृद्ध होता जाता है और दूसरी ओर दुर्बल एवं विजन। सर्वशक्तिमान राजा भी जो अपने को धनी बनाने तथा अपने राज्य की जनसंख्या कम करने में अत्यधिक कष्ट उठाते हैं, किसी गरीब राष्ट्र के शिकार बन जाते हैं जो कि उन पर आक्रमण करने के घातक लोभ में ग्रस्त हो चुका है और अपनी बारी में वह भी धनी एवं दुर्बल होने पर स्वयं दूसरों द्वारा इसी प्रकार आक्रान्त होता तथा विनष्ट कर दिया जाता है।

कोई हमें बताये कि युगों तक पश्चिमी युरोप, एशिया और अफ्रीका को रौंदने वाले बर्बरों के झुण्ड के झुण्ड को किसने उत्पन्न किया था ? क्या उनकी आश्चर्य-जनक वृद्धि, उनकी कलाओं तथा उद्यम के कारण अथवा उनकी राजनैतिक प्रणाली के उत्तम होने के कारण थी ? विद्वान् हमें बतायें कि इन क्रूर एवं मयंकर बर्बरों ने, बिना विवेक या विज्ञान के, बिना शिक्षा के, बिना किसी प्रतिबन्ध के, इस प्रकार गुणित होने की अपेक्षा अपने खेतों और जंगलों की उपज पर विवाद करके प्रतिक्षण एक दूसरे का संहार क्यों नहीं किया ? वे हमें बताएँ कि इन दुष्टों ने किस प्रकार हमारे जैसे चतुर जनों का, जो सैनिक अनुशासन में इतने प्रशिक्षित हैं और इतनी उत्तम संस्थाओं एवं नियमों से अधिकृत हैं, विरोध करने का साहस किया ? और क्यों, उत्तरी देशों में, जहाँ समाज परिपक्व अवस्था तक पहुँचा दिया गया है और अपने निवासियों को सामाजिक कर्तव्यों में शिक्षा देने के लिए और आनंदपूर्वक तथा शान्ति के साथ रहने की कला में दीक्षित करने के लिए अनेक कष्ट उठाये जा चुके हैं, हम ऐसे असंख्य जन-समूहों को उत्पन्न होते हुए अब नहीं पाते जिस प्रकार कि वे किसी समय अन्य राष्ट्रों में महामारी एवं आतंक के रूप में छा जाया करते थे ? मुझे भय है कि संभवतः अन्त में कोई यह कह कर उत्तर देगा कि

कला, विज्ञान तथा विधि (कानून) इन सब सुन्दर वस्तुओं का मनुष्य ने बड़ी बुद्धिमानी के साथ केवल एक लाभदायक दैवी कोप के रूप में मानव जाति की अत्यधिक संख्यावृद्धि रोकने के उद्देश्य से आविष्कार किया था, ताकि यह विश्व, जो हमारे आवास के लिए दिया गया था, कालान्तर में अपने निवासियों के लिए बहुत छोटा न हो जाय।

तब क्या किया जाना चाहिए? क्या सामाजिक संस्थाओं का पूर्ण उन्मूलन कर देना चाहिए? क्या 'तू' व 'मैं' का विनाश कर देना चाहिए और हमें पुनः भालुओं के बीच जीवन व्यतीत करने के लिए जंगलों को लौट जाना चाहिए? यह भी हमारे विरोधियों की शैली का एक निष्कर्ष है और इसके पहले कि उन्हें उसे निरूपित करने के लज्जाजनक कार्य का अवसर दूं, मैं पहिले ही उसे समझ रहा हूँ। ओ नागरिको! जो सोचते हैं कि मनुष्य इस लघु जीवन को व्यतीत करने और शांति के साथ मर जाने के लिए ही पैदा हुआ है, जान पड़ता है कि उन्होंने ईश्वर-वाणी नहीं सुनी है। तुम जो घने बसे हुए नगरों के मध्य अपनी घातक प्राप्तियों को, अपनी अशान्त आत्माओं को, अपने दूषित हृदयों और असीमित इच्छाओं को तिलांजलि दे सकते हो और अपनी प्राचीन एवं आदिम निस्पृहता को, जो कि पूर्णतया तुम्हारे ही ऊपर निर्भर है, पुनः ग्रहण कर सकते हो। अपने समकालीनों के अपराधों को दृष्टि से ओझल करने और उनकी स्मृतियाँ भूलने के लिए पुनः जंगलों में शरण ले लो, और इसके दोषों को त्यागने के लिए उसकी प्रगति को भी छोड़ने में अपनी प्रजाति के अपमान की आशंका न करो। जहाँ तक मेरे जैसे मनुष्यों का सम्बन्ध है, जिनके मनोवेगों ने उनकी मूल सरलता को नष्ट कर दिया है, जो पौधों और बलूत (Oak) के वृक्ष के फलों या बीजों पर अब और जीवित नहीं रह सकते अथवा जो कानूनों तथा दंडाधिकारियों के बिना नहीं रह सकते; जो अपने मूल पिता में अलौकिक आदेशों द्वारा सम्मानित हुए थे; वे जो मानवी कृतियों में आरम्भ से ही सदाचार के संयोजन में, जिसे प्राप्त करने में उन्हें न जाने कितना समय लगता, जिनकी किसी रूप में व्याख्या संभव नहीं, ऐसी दैवाज्ञा का समावेश देखते, जो अन्य किसी भी प्रणाली द्वारा समझ में नहीं आ सकती। संक्षेप में वे जिन्हें विश्वास दिलाया गया है कि ईश्वर ने समस्त मानव जाति को परमानन्द तथा दैवी बुद्धिमत्ता की परिपक्वता में हिस्सा बँटाने का आवाहन किया है और वे सब सद्गुणों के प्रयोग से शाश्वत पुरस्कार प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। वे जो अपनी अपनी जातियों के पवित्र बंधनों का आदर करते हैं; जो अपने सहचर नागरिकों

को प्यार करते और अपनी पूर्णशक्ति से उनकी सेवा करते हैं। वे बड़ी सूक्ष्मता से कानून का पालन करेंगे और उस कानून को कार्यान्वित करनेवालों की आज्ञा मानेंगे। वे विशेष रूप से उन विद्वान और अच्छे राजाओं का आदर करेंगे जो उन सभी दोषों या बुराइयों को रोकने, सुधारने या शमित करने के साधन ढूँढ़ते हैं, जिनसे हम सदैव खतरे में रहते हैं। वे अपने योग्य शासकों के उत्साह को बिना चाटकारिता या भय के उनके पद का महत्त्व दिखाकर और उनके कर्त्तव्य की कठोरता दर्शाकर बढ़ायेगे। परन्तु इस कारण वे ऐसे संविधान के प्रति अपनी तिरस्कार की भावना कम न होने देंगे, जो कि अपने को बिना इतने शिष्ट जनों की सहायता के स्थिर नहीं कर पाता और जो प्रायः वाञ्छनीय रहते हुए भी वाञ्छनीय नहीं निकला और जिससे, उनके इतना कष्ट उठाने एवं ध्यान देने के बाद भी, सदा उससे कहीं ज्यादा वास्तविक विपदाएँ उठ खड़ी होती हैं जितने आभासिक लाभ दिखलायी पड़ते हैं।

३

राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था पर

एक वार्ता

(ए डिस्कॉर्स ऑन पोलिटिकल एकोनामी)

‘इकोनामी’ (Economy) अथवा ‘ओइकोनामी’ (Oeconomy) शब्द “ओइकास”—घर और “नोमास”—विधि (कानून) से उत्पन्न हुआ है।^१ मूल रूप से इसका अर्थ केवल समस्त परिवार की सामान्य भलाई के लिए न्याय-संगत तथा वैध शासन से था। फिर शब्द का अर्थ उस बड़े परिवार अर्थात् राज्य के शासन के लिए व्यापक बन गया। शब्दों के दोनों अर्थों में विभेद करने के लिए बाद वाले को “सामान्य” अथवा “राजनैतिक” अर्थव्यवस्था और प्रथम को घरेलू अथवा विशेष अर्थव्यवस्था कहते हैं। प्रस्तुत वार्त्ता में केवल राजनैतिक अर्थ-व्यवस्था पर विचार-विमर्श किया गया है।

यदि राज्य तथा परिवार में उतनी ही निकट समानता होती जितनी कि बहुत से लेखक दृढ़ता के साथ स्थापित करते हैं, तब भी यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जो आचरण-सम्बन्धी नियम इनमें से एक समाज के लिए उचित हैं वे दूसरे के लिए भी उचित होंगे। एक ही ढंग पर नियमित करने के लिए वे एक दूसरे से क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से बहुत अधिक भिन्न हैं। एक घरेलू शासन में, जिसमें पिता प्रत्येक बात की स्वयं ही देख-रेख कर सकता है और असैनिक या सिविल शासन में, जिसमें मुखिया या नायक सिवाय दूसरों की दृष्टि के माध्यम के कोई चीज नहीं देख सकता, सदैव एक बहुत बड़ा अन्तर रहेगा। इस विषय में यदि दोनों को समान स्तर पर रखें तो पिता की शक्ति, बौद्धिक विशेषताओं और सभी प्रकार की क्षमता को परिवार के आकार के अनुपात में बढ़ना पड़ेगा और दूसरी ओर एक शक्तिशाली राजा की आत्मा को वैसे ही साधारण व्यक्ति की आत्मा की भाँति होना पड़ेगा जैसे कि साम्राज्य का विस्तार एक व्यक्तिगत पुरुष की जायदाद के समान हो।

परन्तु राज्य का शासन परिवार के शासन के समान क्योंकि हो सकता है

१. Economy—Derivative, Latin—Oeconomia, Greek—Oikonomia—Oikos=a house; nomas=a Law.

जबकि जिस सिद्धान्त पर वे आधारित हैं, वही इतने भिन्न हैं? पिता के बच्चों से शारीरिक शक्ति में बलिष्ठ होने के कारण जब तक उन्हें उसके संरक्षण की आवश्यकता है, उसकी पैतृक सत्ता, यथार्थ रूप से, प्रकृति द्वारा स्थापित कही जा सकती है। परन्तु बृहत् परिवार (राज्य) में, जिसके सभी सदस्य प्राकृतिक रूप से समान हैं, राजनैतिक सत्ता विशुद्ध रूप से स्वेच्छाचारी होने के कारण, जहाँ तक कि उसकी स्थापना का संबंध है, केवल परम्पराओं पर आधारित हो सकती है और दंडाधिकारी कानूनों के अतिरिक्त और किसी कारण से अन्य पर कोई अधिकार नहीं रख सकता। पिता के कर्तव्य उसको प्राकृतिक भावनाओं द्वारा निर्देशित किये जाते हैं और इस ढंग से, कि शायद ही कभी उनकी उपेक्षा होने पाती है। शासकों के लिए कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं है। और वे स्वयं जन-साधारण के प्रति केवल उत्तरे के लिए ही उत्तरदायी हैं जो उन्होंने स्वयं करने की प्रतिज्ञा की है और इसलिए जन-साधारण को उनसे ऐसी माँग करने का अधिकार है। इससे भी महत्वपूर्ण एक अन्तर यह है कि बच्चों के पास जो कुछ उनको पिता से प्राप्त होता है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं होता, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति के सभी अधिकार पिता के हैं अथवा उससे उत्पन्न होते हैं, परन्तु बड़े परिवार (राज्य) में स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है, जहाँ कि सामान्य प्रशासन की स्थापना केवल उस व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए होती है जो उसकी पूर्ववर्ती होती है। समस्त परिवार के कार्य का प्रधान लक्ष्य केवल पिता की पैतृक सम्पत्ति की सुरक्षा तथा वृद्धि होता है, इसलिए कि जिससे किसी दिन वह अपनी सन्तति को, बिना उन्हें निर्धन किये, बाँट सके, जबकि राज्यकोष का धन, जिसे प्रायः गलत समझा गया है, केवल व्यक्तियों को शांति तथा बाहुल्य में बनाये रखने का एक साधन है। संक्षेप में छोटा परिवार नष्ट होने और एक दिन उसी प्रकार के अन्य परिवारों में परिवर्तित हो जाने के लिए नियति द्वारा निर्दिष्ट है, परन्तु बड़ा परिवार उसी दशा में स्थायी रूप से बने रहने के लिए संगठित है; केवल छोटे परिवार की तरह संख्या बढ़ाने के लिए उसे अपनी वृद्धि करना अनिवार्य नहीं है वरन् उसे केवल अपने को बनाये रखना आवश्यक है, और यह सरलता से सिद्ध हो सकता है कि कोई भी वृद्धि लाभ के स्थान पर उसे हानि ही अधिक पहुँचाती है।

परिवार में कई कारणों से, जो उसके स्वभाव में निहित हैं, यह स्पष्ट है कि पिता को आदेश देने चाहिए। प्रथमतः सत्ता पिता और माता में समान रूप से विभाजित नहीं होनी चाहिए; शासन एक होना चाहिए और प्रत्येक विचार-

विभेद में निर्णय करने के लिए सबके ऊपर केवल एक प्रभावशाली आवाज होनी चाहिए। द्वितीय, स्त्रियों के सम्बन्ध की विशिष्ट असुविधाओं को चाहे कितनी ही लघुता से देखें फिर भी चूँकि वे अनिवार्य रूप से निष्क्रियता के अवसर पैदा करती हैं, उन्हें सर्वोच्च सत्ता से वंचित रखने के लिए पर्याप्त कारण हैं क्योंकि जब तुला पूर्णतः सम होती है तो उसे एक ओर झुकाने के लिए तिनका भी पर्याप्त होता है। इसके अतिरिक्त पति को पत्नी के आचरण का निरीक्षण करने योग्य होना चाहिए; क्योंकि यह उसके लिए महत्त्व का विषय है कि उसे इसका विश्वास हो जाय कि जिन बच्चों को वह स्वीकार करने तथा पालन-पोषण करने के लिए बाध्य है, वे उसे छोड़कर अन्य के नहीं हैं। तृतीय, बच्चों को अपने पिता का आज्ञाकारी होना चाहिए। सर्वप्रथम आवश्यकता से और तदुपरान्त कृत-ज्ञता से अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में अपनी आवश्यकताओं की उसके द्वारा पूर्ति होने के कारण अपने उत्तरार्द्ध को उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्पित करना चाहिए। चतुर्थ, सेवक उस आजीविका के बदले में जो वह उनके लिए जुटाता है, उसकी सेवा करने के लिए ऋणी हैं, यद्यपि वे अपनी सुविधानुसार जब चाहें तब उस सौदे को खत्म कर सकते हैं। यहाँ मैं दास प्रथा के विषय में कुछ नहीं कहता हूँ क्योंकि वह प्रकृति के विपरीत है और किसी भी अधिकार अथवा कानून द्वारा अधिकृत नहीं हो सकती।

इस सबमें से उस राजनैतिक संस्था में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जिसमें प्रधान व्यक्तियों के सुख में प्राकृतिक रुचि रखने से इतना दूर होता है कि उसके लिए उनकी विपत्ति में भी अपने ही सुख की सोचना, कोई अनहोनी बात नहीं है। यदि दंडाधिकारी का पद वंशपरम्परागत है तो मनुष्यों का समूह प्रायः बच्चे के द्वारा प्रशासित होता है। यदि वह निर्वाचित है तो ऐसे चुनाव से असंख्य असुविधाएँ उत्पन्न हो जायँगी। दोनों ही परिस्थितियों में पितृत्व के सम्पूर्ण लाभ नष्ट हो जाते हैं। यदि तुम्हारा, केवल एक ही शासक है तो तुम एक स्वामी की स्वेच्छा पर निर्भर हो, जिसके पास तुम्हें प्यार करने का कोई विशेष कारण नहीं है और यदि तुम्हारे स्वामी कई हैं तो तुम्हें तुरन्त उनके विभेदों तथा अत्याचारों को सहन करना पड़ेगा। संक्षेप में, ऐसे समाज में बुराइयाँ अवश्यम्भावी हैं तथा उनके परिणाम घातक हैं जहाँ कि सार्वजनिक हित और कानून के पीछे कोई प्राकृतिक शक्ति नहीं है और जहाँ उन पर (लोकहित एवं कानून पर) शासक तथा सदस्यों के व्यक्तिगत स्वार्थों तथा मनोवेगों द्वारा अनवरत रूप से प्रहार होते रहते हैं।

यद्यपि परिवार के पिता और मुख्य दंडाधिकारी के कार्यों का लक्ष्य एक ही होना चाहिए, परन्तु उन्हें ये ऐसे विभिन्न ढंगों पर सम्पन्न करने पड़ते हैं और उनके अधिकार तथा कर्तव्य तत्त्वतः इतने भिन्न हैं, कि हम बिना समाज के मौलिक कानूनों के विषय में मिथ्या विचार मन में लाये और ऐसी त्रुटियों में ग्रस्त हुए, जो मानव जाति के लिए घातक हैं, उनको निष्फल नहीं कर सकते। वास्तव में, यदि प्रकृति की वाणी सबसे अच्छी परामर्शदात्री है जिसे पिता अपने कर्तव्य-पालन में सुन सकता है तो दंडाधिकारी के लिए वह भ्रमात्मक पथ-प्रदर्शक है क्योंकि वह उसे अपने कर्तव्य-पालन से रोकती है और देर-सबेर उसको अपने और राज्य के सर्वनाश की ओर ले जाती है यदि उसे प्रभावशाली सद्गुणों के द्वारा रोका नहीं जाता। परिवार में पिता के लिए एकमात्र आवश्यकीय सतर्कता खुद को भ्रष्ट न होने देने के विरुद्ध सुरक्षा रखना और अपनी प्राकृतिक रुचियों को भ्रष्ट होने से बचाना है, जबकि ये ही दंडाधिकारी को भ्रष्ट करते हैं। सही कार्य करने के लिए प्रथम को अपने हृदय की वाणी सुननी पड़ती है; दूसरा जिस क्षण उसे सुनता है देशद्रोही हो जाता है। उसका स्वयं का विवेक भी उसके लिए संदिग्ध हो जाता है और न ही उसे उस सार्वजनिक तर्क के अतिरिक्त किसी नियम का पालन करना चाहिए जो वास्तव में कानून ही है। इस प्रकार प्रकृति ने परिवारों के अच्छे पिताओं का एक समुदाय ही बना दिया है परन्तु यह संदिग्ध है कि सृष्टि के आरंभ से मानवीय ज्ञान ने दस भी ऐसे पुरुष बनाये हों जो अपने समान लोगों पर शासन करने योग्य हैं।

जो कुछ अभी कहा जा चुका है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था, जो मेरा विषय है, वह उचित ही व्यक्तिगत अर्थव्यवस्था से पृथक् कर दी गयी है। उन प्रतिज्ञाओं के अतिरिक्त, जिनके कारण उनके अधिष्ठाता या प्रधान उनको मुखी बनाने के लिए बाध्य हैं, राज्य और परिवार में और कोई समानता न होने से आचरण के वही नियम दोनों पर लागू नहीं हो सकते। मैं इन कुछ पंक्तियों को उस घृणास्पद व्यवस्था को उलटने के लिए पर्याप्त समझता हूँ जिसे सर रॉबर्ट फिलमर (Sir Robert Filmer) ने अपनी (पुस्तक) पैट्रिआर्का (Patriarcha) में प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। वह एक ऐसी कृति है जिसका, दो प्रसिद्ध लेखकों ने केवल विरोध के लिए पुस्तकें लिखकर अत्यधिक सम्मान किया है। फिर यह त्रुटि बहुत पुराने समय से चली आ रही है क्योंकि स्वयं अरस्तू ने तर्कों द्वारा इसका विरोध करना उचित समझा था,

जो उसकी पुस्तक पोलिटिक्स (Politics) के प्रथम खंड में मिल सकते हैं।

यहाँ मैं अपने पाठकों से सार्वजनिक अर्थव्यवस्था जो मेरा विषय है और जिसे मैं 'शासन' या सरकार कहता हूँ तथा सर्वोच्च शक्ति जिसे मैं प्रभुसत्ता (Sovereignty) कहता हूँ, में विभेद करने के लिए प्रार्थना करूँगा। यह विभेद इस तथ्य पर आश्रित है कि बाद वाले (प्रभुसत्ता) को विधि निर्माण-सम्बन्धी अधिकार हैं और कुछ मामलों में वह स्वयं राष्ट्र के ढाँचे को अनुबन्धित कर देता है जबकि प्रथम को केवल उस विधि को लागू करने का अधिकार है और वह केवल व्यक्तियों पर बंधन है।

मैं एक अत्यन्त सामान्य और कुछ बातों में त्रुटिमय तुलना का प्रयोग करने की धृष्टता करूँगा जो मेरे अर्थ को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कर देगी।

यदि व्यक्तिगत रूप से देखा जाय तो सारी राजसंस्था (बाड़ी पालिटिक) मनुष्य से मिलता-जुलता एक सुसंगठित सजीवशरीर प्राणी है। प्रभुसत्ता सिर का प्रतिनिधित्व करती है; कानून और परम्परा उसका मस्तिष्क है, जो ज्ञान-तन्तुओं का स्रोत तथा अवरोध, इच्छा एवं ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र है; न्यायाधीश तथा दंडाधिकारी इन्द्रियाँ हैं; वाणिज्य, उद्योग तथा कृषि मुख और उदर हैं, जो साधारण आजीविका प्रस्तुत करते हैं; सार्वजनिक आय रक्त है जो सतर्क अर्थव्यवस्था के द्वारा हृदय के कर्तव्यों को सम्पन्न कराके, सारे शरीर में पुष्टि-दायक आहार तथा जीवन का वितरण कराता है; नागरिक शरीर हैं; सदस्य मशीन को सजीव रखने, चलाने और कार्य करने में सहायता देते हैं; यदि प्राणी स्वस्थ अवस्था में है, तो इस मशीन का कोई भाग तुरन्त मस्तिष्क तक कष्टप्रद संवेदन पहुँचाये बिना टूट नहीं सकता।

दोनों शरीरों का जीवन आत्मा है जो सबमें समान है और समस्त भागों के आन्तरिक संवादन और पारस्परिक संवेदयता का पुंज है। जहाँ यह आदान-प्रदान समाप्त हो जाता है, रूपगत एकता लुप्त हो जाती है और संलग्न भाग एक दूसरे के साथ केवल आसक्ति के कारण रह जाते हैं, मनुष्य मर जाता है अथवा राज्य छिन्न-भिन्न हो जाता है।

इसलिए राज-संस्था एक नैतिक प्राणी भी है, जिसकी एक इच्छा या संकल्प है और यह सामान्य इच्छा, जो सदैव सम्पूर्ण की और प्रत्येक भाग की भलाई एवं संरक्षण की ओर प्रेरित होती है और कानून का स्रोत भी है, राज्य के सभी सदस्यों

के लिए अपने एक दूसरे के प्रति और राज्य के प्रति, व्यवहार में, क्या न्यायसंगत है और क्या अन्याय है इसके नियम स्थापित करती है; एक सत्य जो प्रसंगवश, यह दर्शाता है कि किस प्रकार कुछ लेखकों ने आलस्य से स्पार्टा (Sparta) के बालकों की सूक्ष्म निपुणता को, जो अपने सस्ते भोज्य पदार्थों को प्राप्त करने में उनके लिए निर्दिष्ट थी, चोरी की तरह समझा, मानो कानून द्वारा नियोजित प्रत्येक वस्तु न्यायसंगत नहीं है।

यह महत्वपूर्ण बात ध्यान में रखनी चाहिए कि न्याय का यह सिद्धान्त समस्त नागरिकों के सम्बन्ध में निर्भ्रम होते हुए भी विदेशियों के विषय में त्रुटिपूर्ण हो सकता है। कारण स्पष्ट है। राज्य की इच्छा अपने सदस्यों के लिए सामान्य है, परन्तु अन्य राज्यों और उनके सदस्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार की नहीं होती वरन् उनके लिए एक विशेष तथा व्यक्तिगत इच्छा बन जाती है जिसका न्याय-नियम प्रकृति के कानून में स्थित होता है। फिर भी यह यहाँ पर निरूपित सिद्धान्त में समान रूप से लागू होता है। क्योंकि ऐसी दशा में, विश्व का महानगर ही राजसंस्था बन जाता है और प्रकृति का कानून उसकी सामान्य इच्छा होती है। और विभिन्न राज्य तथा जन-साधारण उसके व्यक्तिगत सदस्य होते हैं। इन विभिन्नताओं से, जो कि प्रत्येक राजनैतिक समाज तथा उसके सदस्यों पर लागू की जाती हैं, सर्वमान्य तथा सार्वभौम नियम उत्पन्न होते हैं जिनसे हम निर्णय कर सकते हैं कि एक शासन अच्छा या बुरा और साधारणतया समस्त मानवीय क्रियाओं की नैतिकता के अनुकूल है अथवा नहीं।

प्रत्येक राजनैतिक समाज, विभिन्न प्रकार के छोटे-छोटे समाजों से मिलकर बनता है जिनमें से प्रत्येक अपने स्वार्थ तथा आचरण के नियम रखता है। परन्तु जिन संस्थाओं को उनका एक बाह्य और अधिकृत स्वरूप होने के कारण प्रत्येक देखता है, केवल उन्हीं का अस्तित्व राज्य में नहीं होता। वे सब व्यक्ति, जो समान स्वार्थ से संयुक्त-संगठित होते हैं, और भी बहुत सी संस्थाएँ बनाते हैं; भले ही वे क्षणिक हों या स्थायी, जिनका प्रभाव, उनके कम प्रत्यक्ष होने के कारण कुछ कम वास्तविक नहीं होता और जिनके विभिन्न सम्बन्धों का उचित निरीक्षण सार्वजनिक आचरण तथा शिष्टाचार का सच्चा ज्ञान है। इन अस्पष्ट अथवा औपचारिक संस्थाओं का प्रभाव, अपने संकल्प के प्रभाव से, सार्वजनिक संकल्प में अनेक विभिन्न संशोधन करता है। इन विशेष समाजों के संकल्प के सदा दो प्रकार के सम्बन्ध होते हैं; संस्था के सदस्यों के लिए यह एक सामान्य संकल्प (इच्छा)

है; बृहत् समाज के लिए एक विशिष्ट संकल्प (इच्छा) है और यह प्रायः प्रथम उद्देश्य के संबंध में सही होता है और दूसरे के विषय में त्रुटिपूर्ण। एक व्यक्ति भक्त पुजारी, वीर सैनिक अथवा सीनेट (राज्यसभा) का एक उत्साही सदस्य होने पर भी बुरा नागरिक हो सकता है। एक विशेष प्रस्ताव छोटे समुदाय के लिए लाभप्रद हो सकता है, परन्तु बड़े के लिए हानिकारक। यह सत्य है कि विशेष समाज या संस्थाएँ दूसरों की अपेक्षा सामान्य समाज की ज्यादा अधीन होती हैं, एक नागरिक के कर्तव्य को एक सिनेटर के कर्तव्य पर और एक आदमी के कर्तव्य को एक नागरिक के कर्तव्य पर वरीयता दी जाती है। परन्तु दुर्भाग्यवश व्यक्तिगत स्वार्थ सदैव कर्तव्य के सम्मुख उलटे अनुपात में पाया जाता है और जैसे-जैसे संस्था संकुचित होती जाती है वैसे ही वैसे अनुपाततः वह बढ़ता जाता है; और वैसे ही वैसे बंधन कम पवित्र होते जाते हैं। इससे निर्विवाद रूप से प्रमाणित होता है कि अत्यधिक सामान्य वा सार्वजनिक इच्छा अनिवार्य रूप से सदैव न्यायसंगत होती है और जन-साधारण की वाणी वास्तव में ईश्वर की वाणी है।

परन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि सार्वजनिक निर्णय सदैव न्यायोचित होते हैं। जो कारण मैंने दिये हैं, उनके अनुसार वे संभवतः उस भाँति निरूपित नहीं होते—विशेषतः जब उन्हें विदेशियों से व्यवहार करना होता है। इसलिए यह असम्भव नहीं है कि एक गणतंत्र भली प्रकार सुशासित होते हुए भी एक अन्यायपूर्ण युद्ध में सम्मिलित हो। और न ही लोकतंत्र की परिषद् (The Council of a Democracy) के लिए यह कुछ कम संभव है कि वह अन्यायपूर्ण राजाज्ञाएँ पारित करे और निर्दोष को अपराधी घोषित करे। किन्तु यह तब तक कभी घटित नहीं होता जब तक कि जन-साधारण व्यक्तिगत स्वार्थों से ऐसे कुमार्ग पर न ले जाये जायँ जिसे कि कुछ चतुर पुरुषों की श्रद्धा अथवा वक्तृत्व-शक्ति राज्य की इच्छा के स्थान पर स्थापित कर देती है। ऐसी दशा में सामान्य इच्छा (संकल्प) एक वस्तु होगी और सार्वजनिक विचार-विमर्श का परिणाम दूसरी। एथेंस के लोकतंत्र के उदाहरण से इसका खंडन नहीं होता क्योंकि एथेंस वास्तव में लोकतंत्र शासन नहीं था वरन् एक अत्यन्त आततायी कुलीनतंत्र था और दार्शनिकों एवं वक्ताओं द्वारा शासित था। सतर्कता से यह निश्चय करो कि प्रत्येक सार्वजनिक विचार-विमर्श में क्या होता है, तो यह दिखलायी पड़ेगा कि सामान्य इच्छा सदैव सामान्य हित के अनुकूल होती है। लेकिन प्रायः उसमें एक गुप्त भाग होता है—एक अस्पष्ट दुरभिसन्धि जो विशेष लक्ष्यों के कारण विधान सभा के

नैसर्गिक स्वभाव को नष्ट कर देती है। ऐसी दशा में समाज वास्तव में कई अन्य समाजों या संस्थाओं में विभाजित हो जाता है, जिसके सदस्य एक सामान्य इच्छा (संकल्प) उपाजित करते हैं, जो इन नवीन संस्थाओं के विषय में अच्छी तथा न्यायपूर्ण होती है परन्तु सम्पूर्ण के सम्बन्ध में बुरी तथा न्यायरहित, जिससे प्रत्येक का इस भाँति अंग-विच्छेद हो जाता है।

तब हम देखते हैं कि इन सिद्धान्तों की सहायता से उन स्पष्ट-विरोधों की सफाई देना कितना आसान है जो बहुत से ऐसे व्यक्तियों के आचरण में भी देखे जाते हैं जो कुछ विषयों में सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि से भी ईमानदार हैं और अन्य में प्रवंचक और दुष्ट हैं तथा सबसे पवित्र कर्त्तव्यों को पददलित करते हैं, और तिस पर भी मृत्यु-पर्यन्त उन बहुत से कार्यों के प्रति निष्ठावान रहते हैं, जो प्रायः अवैध हैं। इस प्रकार मनुष्यों में अत्यन्त भ्रष्ट भी सार्वजनिक निष्ठा के प्रति किसी न किसी प्रकार का सम्मान प्रदर्शित करता है। और डाकू, जो बृहत् समाज के सद्गुणों के शत्रु हैं, इसकी छाया के प्रति अपनी गुप्त कन्दराओं में कुछ न कुछ सम्मान प्रदर्शित करते हैं।

सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था के प्रथम सिद्धान्त तथा शासन के मूलभूत नियम के रूप में सामान्य इच्छा (संकल्प) की स्थापना करने में मैंने यह आवश्यक नहीं समझा कि गंभीरता से यह जाँच करूँ कि दण्डाधिकारी जन-साधारण के अधीन है अथवा जन-साधारण दण्डाधिकारियों के? सार्वजनिक मामलों में राज्य की भलाई का ध्यान रखना चाहिए अथवा केवल उसके शासकों की भलाई का? सिद्धान्ततः तो यह प्रश्न बहुत दिन पूर्व ही एक पक्ष में निश्चित हो चुका है, और व्यवहार में दूसरे के पक्ष में। साधारणतया यह आशा करना हास्यास्पद होगा कि जो वास्तव में स्वामी है वे अपने स्वार्थ के सामने किसी और हित को पसंद करेंगे। इसलिए यह अनुचित नहीं होगा कि और आगे सार्वजनिक अर्थव्यवस्था के लोकप्रिय अथवा स्वेच्छाचारी रूप में भेद किया जाय। प्रथम तो प्रत्येक ऐसे राज्य में वर्तमान है जहाँ शासकों तथा जन-साधारण में स्वार्थ एवं संकल्प की एकता है। द्वितीय अनिवार्यतः वहाँ विद्यमान रहेगा जहाँ शासन तथा जन-साधारण के स्वार्थ भिन्न होंगे और फलस्वरूप इच्छाओं वा संकल्पों में विरोध होगा। द्वितीय के नियम इतिहास के अभिलेख-रक्षालय में तथा मेकियावेली (Machiavelli) की व्यंगात्मक टिप्पणियों में विस्तार के साथ लिखे हुए हैं। प्रथम के नियम केवल उन दार्शनिकों की कृतियों में

पाये जाते हैं जो मानव जाति के अधिकारों को घोषित करने का साहस करते हैं।

१. वैध अथवा लोकप्रिय शासन अर्थात् ऐसा शासन, जिसका लक्ष्य जन-साधारण की भलाई है, का सबसे महत्वपूर्ण एवं सर्वप्रथम नियम, प्रत्येक दशा में सामान्य या लोक-इच्छा का पालन करना है परन्तु इस इच्छा का पालन करने के लिए इसे जानना और इससे भी अधिक उस विशिष्ट इच्छा से उसका भेद करना आवश्यक है, जो स्वयं अपने से शुरू होती है। यह विभेद करना सदैव बहुत कठिन है और केवल भव्य सद्गुण ही उस पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकते हैं। चूँकि इच्छा प्रकट करने के लिए आवश्यक है कि आदमी स्वतंत्र हों, इसलिए इसमें प्रथम से भी अधिक एक कठिनाई उत्पन्न होती है—सार्वजनिक स्वतंत्रता तथा शासनाधिकार की एक साथ रक्षा करना। उन प्रयोजनों को देखो जिन्होंने, एक समय अपनी एक-सी आवश्यकताओं के कारण सामान्य समाज में संगठित मनुष्यों को और अधिक आत्मीयता से अपने को सिविल संस्थाओं में संगठित करने के लिए प्रेरित किया। इसमें प्रत्येक सदस्य की सम्पत्ति, जीवन तथा स्वतंत्रता को सभी के द्वारा सुरक्षित करने के अतिरिक्त तुम और कोई प्रयोजन नहीं पाओगे। परन्तु क्या मनुष्यों को अपने मध्य किसी एक की स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए, बिना दूसरे की स्वतंत्रता में अनधिकार प्रवेश किये, बाध्य किया जा सकता है? और सार्वजनिक आवश्यकताओं का, बिना उन लोगों की व्यक्तिगत सम्पत्ति को क्षति पहुँचाये जो उसमें योग देने के लिए बाध्य किये गये हैं, वे कैसे प्रबन्ध कर सकते हैं? इसे चाहे जिस प्रकार के वितण्डावाद से ढका जाय, यह निश्चय है कि मेरी इच्छा पर यदि कोई भी प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो मैं स्वतन्त्र कहाँ रहा और यदि कोई अन्य व्यक्ति मेरी सम्पत्ति पर हाथ लगा सकता है तो मैं अपनी सम्पत्ति का स्वामी नहीं रहा। यह कठिनाई भी, जो पहिले अजेय समझी जाती थी, मानवीय संस्थाओं में से सबसे भव्य संस्था द्वारा अथवा दैवी प्रेरणा द्वारा जो मानव जाति को इसी भूलोक में दैव की अपरिवर्त्तनीय आज्ञाओं का अनुसरण करने का पाठ पढ़ाती है, प्रथम की भाँति ही दूर कर दी गयी है। किस अकल्पनीय कला द्वारा ऐसा साधन पाया गया जिससे मनुष्य पराधीन होकर भी स्वतंत्र हो जाय; बिना बल-प्रयोग के और बिना उनसे परामर्श लिये, राज्य के सभी सदस्यों की सम्पत्ति, आदमी, यहाँ तक कि जीवन भी राज्य की सेवा में प्रयुक्त कर लिया जाय; स्वयं उनकी स्वीकृति से उनकी इच्छा को सीमित कर दिया जाय; उनकी अस्वीकृति को उनकी अनुमति

से निरस्त कर दिया जाय और जब वे स्वयं अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्य करें तो उन्हें अपने को दंड देने के लिए बाध्य किया जाय ? यह कैसे हो सकता है कि सब लोग आज्ञा मानें, तिस पर भी कोई आदेश देने का भार ग्रहण न करे और सब सेवा करें तिस पर भी कोई स्वामी न हो, बल्कि मनुष्य और अधिक स्वतंत्र हो क्योंकि आभासिक परतंत्रता में प्रत्येक अपनी स्वतंत्रता के उस अंश के अतिरिक्त कोई अंश नहीं खोता, जो दूसरे के लिए हानिकारक हो ? ये चमत्कार कानून का परिणाम हैं। कानून के ही कारण मनुष्य न्याय और स्वतंत्रता पाता है। यह सबकी सम्मिलित इच्छा का मंगलकारी अवयव है जो नागरिक अधिकार में, मनुष्यों के बीच प्राकृतिक समानता स्थापित करता है। यह वह अलौकिक वाणी है जो प्रत्येक नागरिक को सार्वजनिक तर्क के सिद्धान्तों पर चलने को बाध्य करती है और उसे अपने स्वयं के निर्णय के नियमों के अनुसार कार्य करना सिखाती है जिससे वह अपने प्रति असंगत आचरण न करे। केवल यही वह वाणी है जिसके माध्यम से राजनैतिक शासक को आदेश देते समय बोलना चाहिए क्योंकि जैसे ही एक मनुष्य, नियम का उल्लंघन करके दूसरे को अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अधीन करने का दावा करता है वह शिष्ट (सिविल) समाज की स्थिति से अलग हो जाता है और विशुद्ध प्राकृतिक अवस्था में, जिसमें आज्ञाकारिता केवल आवश्यकता द्वारा निर्दिष्ट है—एक दूसरे का सामना करता है।

इसलिए शासक का सबसे दृढ़ग्रही स्वार्थ और उसका अत्यन्त आवश्यक कर्त्तव्य भी उन नियमों के पालन की देखरेख करना है जिनका वह मंत्री है, और जिन पर उसका सारा अधिकार आधारित है। यदि वह अन्य से उनका पालन कराता है तो वह स्वयं भी दृढ़ता से उनका पालन करने के लिए बाध्य है क्योंकि वह उनकी सभी कृपाओं का पात्र है। उसका दृष्टान्त इतना बलवान है कि यदि उसे जन-साधारण नियमों के बोझ से मुक्त करने को तैयार हो जाते हैं तो भी उसे स्वयं ऐसे भयानक विशेषाधिकार का लाभ उठाने से सतर्क रहना चाहिए क्योंकि शीघ्र ही अन्य लोग भी अपनी बारी में वैसा ही करना चाहेंगे और प्रायः उसके विरुद्ध प्रयोग में लायेंगे। चूंकि मूलतः ये सभी सामाजिक व्यवसाय प्रकृति में पारस्परिक हैं इसलिए बिना लाभों को तिलांजलि दिये किसी के लिए अपने को कानून से परे रखना असम्भव है। जो आदमी यह दावा करता है कि वह अन्य किसी का ऋणी नहीं है उसके साथ कोई आदमी किसी दायित्व के बंधन में नहीं बँध सकता। इसी कारण एक सुव्यवस्थित शासन में किसी भी आधार पर कानून से छूट नहीं मिल सकती।

उन नागरिकों को, जिन्हें उनका देश योग्य समझता है, उपाधियों से अवश्य पुरस्कृत किया जाना चाहिए लेकिन विशेषाधिकारों से नहीं, क्योंकि जब कोई नागरिक कानूनों की अवज्ञा को उत्तम समझता है तो समझ लो कि गणतंत्र अवश्य ही पतन की सन्ध्यावेला में है। यदि सामन्तशाही अथवा सैनिक दल कभी ऐसा सिद्धान्त ग्रहण करेगा तो ऐसा सर्वनाश होगा कि उससे उद्धार असम्भव हो जायगा।

कानूनों की शक्ति प्रशासकों की कड़ाई की अपेक्षा उनकी स्वयं की विवेक-पूर्णता पर कहीं अधिक निर्भर करती है और लोक-इच्छा उस तर्क से सबसे अधिक बल प्राप्त करती है जिसने उसे निदिष्ट किया है। प्लेटो (Plato) ने समस्त राजाज्ञाओं के ऊपर न्याय तथा उसकी उपयोगिता को निरूपित करनेवाली एक प्रस्तावना रखने को अत्यन्त आवश्यक सत कृता बताया है। वास्तव में सबसे प्रथम कानून, कानूनों का सम्मान करना है। दण्ड की कठोरता केवल एक व्यर्थ का उपाय है जिसका आविष्कार छोटे मस्तिष्कों ने इस ध्येय से किया कि आतंक को उस सम्मान के स्थान पर रख दें जिसे प्राप्त करने का उनके पास कोई साधन नहीं था। अनवरत रूप से यह देखा जा चुका है कि जिन देशों में कानूनी सत्ता अत्यन्त कठोर है वहाँ उसका अत्यधिक प्रयोग भी होता है इसलिए ऐसे दण्ड की कठोरता केवल अभियुक्तों के समुदाय के सक्रिय होने का प्रमाण है और प्रत्येक को समान कठोरता से दण्डित करना अपराधियों को इस ध्येय से अपराध करने के लिए प्रेरित करता है कि वे अपने अपराधों के लिए दण्डित होने से बच जायं।

परन्तु शासन कानून का अधिष्ठाता भले न हो उसका प्रत्याभू होना और उसके प्रति आस्था उत्पन्न करने के लिए सहस्रों साधनों से सम्पन्न होना भी बहुत बड़ी बात है। इसी में शासन करने की चतुराई है। अपने हाथों में सैनिक शक्ति रखते हुए, ऐसी किसी अन्य कला की आवश्यकता नहीं है जो समस्त विश्व को कंपायमान कर सके अथवा मनुष्यों के हृदय पर विजय पा सके। क्योंकि अनुभव ने पर्याप्त समय से, जन-साधारण को यह सिखा दिया है कि वे अपने शासकों को उन समस्त दोषों के लिए श्रद्धा अर्पित करें जिनको प्रयोग में लाने से वे विरत रहते हैं। वे उनकी पूजा करते यदि वे इससे पूर्णतया घृणा न करते। यदि एक मूर्ख की आज्ञा मानी जाय तो वह अपराधों के लिए सभी को दण्ड दे सकता है परन्तु सच्चा राजमर्मज्ञ वही है जो उन्हें रोकने का उपाय जानता है। क्रियाओं से अधिक अपनी प्रजा की इच्छाओं के ऊपर उसके सम्माननीय शासन का प्रसार होता है। यदि वह इसका उपाय कर सकता कि प्रत्येक सही ढंग से कार्य करे तो उसके लिए कुछ

भी कार्य करना शेष नहीं रह जाता; और उसके श्रम की सबसे बड़ी कृति यही होती कि वह बेकार रहता। कम से कम, यह निश्चित है कि सर्वोत्कृष्ट बौद्धिक विशेषता जो एक शासक प्राप्त कर सकता है, अपनी शक्ति को प्रच्छन्न रखने में है जिससे कि वह कम अप्रिय हो और राज्य कार्य इतनी शांति से चले कि यह प्रतीत हो कि उसके लिए संचालकों की आवश्यकता ही नहीं है।

चूंकि विधायकों का सर्वप्रथम कर्तव्य कानूनों को लोकेच्छा के अनुकूल बनाना है इसलिए मैं निष्कर्ष निकालता हूँ कि सार्वजनिक अर्थव्यवस्था का प्रथम नियम यह है कि न्याय का प्रशासन कानूनों के अनुकूल हो। इतना भी पर्याप्त होगा कि राज्य को कुशासन से बचा लिया जाय क्योंकि विधायक ने, जैसा कि उसे चाहिए, स्थान, जलवायु, भूमि, परम्परा, पड़ोस तथा अन्य सब सम्बन्ध जो शासित राष्ट्र के अनुकूल हों, का प्रबन्ध कर ही दिया होगा। इसके बाद भी प्रशासन तथा अर्थव्यवस्था के असीम ब्यौरे शेष रह जाते हैं, किन्तु वे सब शासन वा सरकार के विवेक पर छोड़ दिये गये हैं, और अच्छे आचरण के लिए ऐसे अवसरों पर दो अभ्रान्त नियम हैं। प्रथम, यदि कोई ऐसा प्रसंग आ जाय जिसकी पहिले से कल्पना नहीं की जा सकी थी तो कानून की भावना के प्रकाश में उसका निर्णय होना चाहिए। दूसरा यह है कि जहाँ भी कानून असफल हो, वहाँ समस्त नियमों का उद्गम तथा पूरक जो सामान्य इच्छा है उससे विचार किया जाना चाहिए। परन्तु मुझसे पूछा जा सकता है कि क्या सामान्य इच्छा उन विषयों में ज्ञात हो सकती है जिनमें उसने अपने को अभिव्यक्त न किया हो? क्या प्रत्येक अप्रत्याशित घटना पर समस्त राष्ट्र को एकत्र किया जाय? कदापि नहीं। ऐसा तो और भी कम होना चाहिए क्योंकि यह किसी प्रकार से भी निश्चित नहीं है कि उसका निर्णय सामान्य की अभिव्यक्ति होगी। इसके अतिरिक्त एक बड़े राष्ट्र में यह ढंग अव्यावहारिक भी होगा, और जहाँ प्रशासन अच्छी प्रवृत्तियों से प्रेरित हो वहाँ कदाचित् आवश्यक भी नहीं होगा। शासक भली प्रकार जानते हैं कि सामान्य इच्छा सदैव उस पक्ष में होती है जो सार्वजनिक हित के लिए सबसे अधिक अनुकूल होता है अर्थात् जो सबसे अधिक न्यायसंगत होता है। अतएव सामान्य इच्छा का अनुसरण करने के लिए केवल न्यायपूर्वक कार्य करना आवश्यक है। जब स्पष्ट रूप से उसकी अवहेलना होती है तो लोकसत्ता द्वारा भीषण प्रतिबन्धों के होते हुए भी वह अपना प्रभुत्व व्यक्त करता है। ऐसे विषयों में कुछ निकटतम दृष्टान्त, जिनका पालन किया जा सकता है, प्रस्तुत करता हूँ।

चीन में राजा का अनवरत सिद्धान्त है कि राज्याधिकारियों और जन-साधारण के बीच जो भी झगड़ा खड़ा हो उसमें फैसला अधिकारियों के विरुद्ध होना चाहिए। यदि किसी प्रान्त में खाद्य सामग्री बहुत मंहगी है तो उस प्रान्त के प्रबन्धकर्ता को बन्दीगृह में डाल दिया जाता है। यदि किसी दूसरे प्रान्त में विद्रोह होता है तो राज्य-पाल पदच्युत कर दिया जाता है और यदि किसी मेंडारिन^१ (Mandarin) के विभाग में भ्रष्टता है तो उसका सिर उतार लिया जाता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि ऐसे विषयों पर तदनन्तर नियमित रूप से जांच नहीं की जाती; परन्तु दीर्घ-कालीन अनुभव ने निर्णय को इस प्रकार पूर्वकल्पित बना दिया है। कदाचित् ही कोई ऐसा अन्याय होता हो जिसको पलटने की आवश्यकता पड़ती हो। इस बीच सम्राट् को जब यह संतोष हो जाता है कि सार्वजनिक विरोध बिना कारण उत्पन्न नहीं होता तो वह राजद्रोहपूर्ण कोलाहल के माध्यम से, जिसके लिए वह उन्हें दण्डित करता है, यह पता लगा लेता है कि वे न्यायसंगत शिकायतें क्या हैं जिन्हें दूर करना है।

गणतंत्र के विभिन्न भागों में शांति एवं व्यवस्था का शासन बनाये रखना बहुत बड़ी बात है। यह भी बड़ी बात है कि राज्य प्रशान्त हो और कानूनों का सम्मान एवं पालन होता हो; किन्तु यदि इतना ही छोड़ दिया जाता है तो, इस सब में वास्तविकता से बाह्य-आडम्बर अधिक हो जायगा, क्योंकि जो शासन अपने को केवल आज्ञा पालन कराने तक सीमित रखता है, वह अपनी आज्ञा पालन कराने में भी कठिनाई अनुभव करेगा। यदि यह जानना अच्छा है कि मनुष्य जिस अवस्था में भी हैं उसमें उनके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जा सकता है तो यह उससे भी अच्छा होगा कि उन्हें वह बनाया जाय जिसकी आवश्यकता है और जैसा कि उन्हें होना चाहिए। सबसे पूर्ण सत्ता वही है जो मनुष्य की अन्तरात्मा में प्रवेश करे। वह उसकी क्रियाओं के साथ उसकी इच्छा से भी सम्बन्ध रखती है। यह निश्चित है कि सभी राष्ट्र दीर्घकाल में वही हो जाते हैं जो शासन उन्हें बनाता है, योद्धा, नागरिक, मनुष्य, जब उसकी जैसी इच्छा हो; अथवा केवल मनुष्यों के झुण्ड और शोरगुल मचानेवालों के समूह, जब उसकी वैसी इच्छा होती है। अतएव प्रत्येक नरेश जो अपनी प्रजा से घृणा करता है, स्वयं अपने को अपमानित करता है; मानो यह स्वीकार करता है कि वह यह नहीं जानता कि उन्हें

१. चीनी पदाधिकारियों का यूरोप में प्रचलित नाम। (१८वीं शताब्दी में)

सम्मान-योग्य किस भाँति बनाया जा सकता है। इसलिए यदि तुम मानवों पर शासन करना चाहते हो तो पहिले मानवों का निर्माण करो; यदि तुम उन्हें कानून के प्रति आज्ञाकारी बनाना चाहते हो तो उन्हें कानूनों से प्रेम करना सिखाओ और तब उन्हें केवल यही जानना शेष रहेगा कि उनका कर्त्तव्य क्या है। प्राचीन युग के शासनों की यही महती कला थी; उस दूरस्थ काल में दार्शनिक मनुष्यों को कानून प्रदान करते थे और अपनी शक्ति का प्रयोग उन्हें विद्वान एवं सुखी बनाने के लिए करते थे। तदुपरान्त असंख्य व्यय-सम्बन्धी नियम, सदाचार-सम्बन्धी बहुत से सिद्धान्त, आचरण के सभी सार्वजनिक नियम, जो अत्यधिक सतर्कता के साथ स्वीकृत अथवा अस्वीकृत होते थे, उत्पन्न हुए। यहाँ तक कि स्वेच्छाचारी शासकों ने भी प्रशासन के इस महत्वपूर्ण अंग को विस्मृत नहीं किया वरन् अपने दासों के आचरण को भ्रष्ट करने में उतने ही कष्ट उठाये जितने कि दंडाधिकारी अपने सहचर नागरिकों को शुद्ध करने में उठाते थे। परन्तु हमारे आधुनिक शासक, यह कल्पना करते हैं कि राज्य-कर एकत्र करने के पश्चात् उन्होंने अपना सब कर्त्तव्य पूरा कर लिया; वे सोचते हैं कि उसके आगे एक पग भी बढ़ाना अनावश्यक ही नहीं वरन् असम्भव है।

२. सार्वजनिक अर्थव्यवस्था का द्वितीय आवश्यक नियम प्रथम से कम महत्वपूर्ण नहीं है। यदि तुम सामान्य इच्छा की पूर्ति चाहते हो तो समस्त विशेष इच्छाओं को सामान्य के अनुकूल बनाओ। दूसरे शब्दों में चूँकि सद्गुण विशेष इच्छाओं के सामान्य के अनुकूल होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, इसलिए सद्गुणों का प्रभुत्व स्थापित करो।

यदि हमारे राजनीतिज्ञ अपनी महत्वाकांक्षा से कुछ कम अंधे होते तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि किसी भी संस्था के लिए अपनी स्थापना की भावना के अनुकूल कार्य करना कितना असम्भव हो जाता है जब तक कर्त्तव्य के नियम के अनुसार उसका संचालन न हो। उन्हें यह अनुभव हो जायगा कि राजसत्ता सबसे अधिक नागरिकों के हृदय में निहित रहती है और शासन के संचालन में सदाचार का स्थान और कोई चीज़ नहीं ले सकती। केवल सच्चे व्यक्ति ही यह नहीं जानते कि कानून का प्रशासन किस भाँति होता है; परन्तु हृदय से केवल सज्जन ही यह जानते हैं कि उनका पालन कैसे किया जाता है। जो मनुष्य पश्चात्ताप स्थिति से एक बार भी सफलतापूर्वक ऊपर उठ जाता है वह दण्ड के सम्मुख, जो कम कठोर होता है और कम स्थायी और जिससे बचने की भी आशा रहती है, हिचकिचायेगा नहीं।

चाहे कितनी भी सतर्कता व्यवहार में लायी जाय, जो दोषपूर्ण कार्य करने के लिए केवल दंड से बचने की इच्छा रखते हैं वे कानून की अवहेलना करने तथा उसके दण्ड से बचाव के साधन ढूँढ़ निकालने में असफल नहीं रहेंगे। इस विषय में चूंकि सभी विशेष हित उस सामान्य के विरुद्ध, जो स्वयं अब किसी व्यक्ति का हित नहीं रह गया है, संगठित हो जाते हैं, इसलिए सार्वजनिक दोष कानूनों को निस्तेज बनाने में उससे अधिक प्रभावशाली होते हैं जितना कानून ऐसे दोषों को दमन करने में होता है। इस प्रकार जनता तथा उसके शासकों का भ्रष्टाचार अन्त में शासन तक व्यापक हो जाता है फिर चाहे वह कितना ही विवेकपूर्ण क्यों न हो। असल में कानूनों को निर्भयतापूर्वक तोड़ने के विचार से उनके प्रति दिखावटी आज्ञाकारिता प्रदर्शित करना सबसे बड़ा दुरुपयोग या दोष है। इस तरह सर्वोत्तम कानून शीघ्र ही सबसे अधिक घातक हो जाते हैं ; इससे तो शतगुण अच्छा होगा कि उनका अस्तित्व ही न रहे। ऐसी परिस्थिति में, राजाज्ञाओं पर राजाज्ञाएँ, नियमों पर नियम जोड़ते जाना व्यर्थ है। प्रत्येक वस्तु बिना पुरानों का उपचार किये केवल नवीन दोष-दुरुपयोग पैदा करती है; कानून जितने ही परिगुणित होते हैं उतने ही घृणास्पद होते जाते हैं और जितने भी नये पदाधिकारी उनका निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किये जाते हैं वे उतने ही नियम उल्लंघन करने वालों की तथा अपने पूर्ववर्तियों की लूट में भाग प्राप्त करने अथवा अपने ही और लूट-खसोट करनेवालों की संख्या बढ़ाते हैं। सद्गुण का पुरस्कार शीघ्र ही डकैती का प्रसाद बन जाता है; दुष्ट से दुष्ट मनुष्य सर्वोच्च मान प्राप्त करता है; लोग जितने ही महान् होते हैं उतने ही जघन्य बन जाते हैं। उनकी अपकीर्ति उनकी मर्यादाओं में भी अभिव्यक्त होने लगती है और उनके सम्मान ही उन्हें अपमानित करने लगते हैं। यदि वे नेताओं का प्रभाव अथवा महिलाओं का संरक्षण खरीदते हैं तो केवल इसलिए कि अपनी बारी में वे न्याय, कर्तव्य और राज्य को भी बेच सकें। इसी बीच, जन-साधारण यह जानकर कि उनके दोष विपदाओं के सर्वप्रथम कारण नहीं हैं, बड़बड़ाते हैं और शिकायत करते हैं कि उनकी समस्त विपदाएँ केवल उनसे उत्पन्न हुई हैं जिनको ऐसी वस्तुओं से रक्षा करने के लिए वे धन देते हैं।

ऐसी ही परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें कर्तव्य की वाणी मनुष्यों के हृदयों में नहीं गूँजती और उनके शासक उसके स्थान पर आतंक का चीत्कार अथवा आभासिक स्वार्थ के लोभ को स्थापित करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, जिससे तदन्तर

वे अपने ही प्राणियों को चालाकी से ठगते हैं। इस स्थिति में वे छोटे तथा घृणास्पद परिवर्तनों का आश्रय लेने के लिए विवश हो जाते हैं जिन्हें वे राज्य के कानून और मंत्रिमंडल के रहस्य कहते हैं। शासन में जो ओज शेष रह जाता है वह सदस्यों द्वारा एक दूसरे का नाश करने अथवा अपदस्थ करने में प्रयुक्त होता है और सार्वजनिक कार्यवाही की उपेक्षा की जाती है अथवा वह इस प्रकार सम्पन्न की जाती है मानो केवल व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति एवं निर्देश के लिए हो। संक्षेप में, उन महान् राजनीतिज्ञों की कला, जिनकी उन्हें आवश्यकता है, उन लोगों को इस प्रकार मूर्च्छना से भर देती है कि प्रत्येक व्यक्ति उनके लिए प्रयत्नशील रहने में, यह समझता है कि वह अपने ही स्वार्थ के लिए कर्तव्य कर रहा है। मैं 'उनके लिए' इस मिथ्या अनुमान पर कह रहा हूँ कि किसी राष्ट्र को पराधीन बनाने के लिए उसे नष्ट कर देना और अपने वैभव को सुरक्षित करने के लिए उनकी सम्पत्ति को खत्म कर देना शासकों के अपने यथार्थ हित में होता है।

परन्तु जब नागरिक अपने कर्तव्य को प्रेम करते हैं और जनसत्ता के अभिभावक सच्ची लगन से अपने उदाहरण और तत्परता के द्वारा उस प्रेम को उत्साहित करते हैं तो प्रत्येक कठिनाई लुप्त हो जाती है और शासन इतना सरल हो जाता है कि उसे गुप्त चतुराई के उन कार्यों में से किसी की आवश्यकता नहीं पड़ती, जिसका कालापन ही उसका एकमात्र रहस्य होता है। उन साहसी आत्माओं पर, जो इतनी भयानक परन्तु इतनी प्रशंसित होती हैं, तथा उन सब महान् मंत्रियों पर जिनकी कीर्ति राष्ट्र की विपदाओं से अविभाज्य है, अब किसी को खेद नहीं होता। शासकों की प्रतिमा में जो न्यूनता होती है वह सार्वजनिक सदाचार पूर्ण कर देता है और जितना अधिक सद्गुणों का बोलबाला रहता है उतनी ही बौद्धिक विशेषता की आवश्यकता कम होती है। यहाँ तक कि महत्वाकांक्षा भी अपहरण की अपेक्षा कर्तव्य-भावना से ज्यादा अच्छी तरह सेवित होती है। जब राष्ट्र को यह विश्वास हो जाता है कि शासक केवल उसके सुख के लिए यत्नवान हैं तो उसकी श्रद्धा उन्हें अपनी शक्ति बढ़ाने का कष्ट उठाने से बचाती है। और सहस्रों मामलों में इतिहास बताता है कि एक आदमी जिन्हें प्यार करता है उनके द्वारा प्यार किये जाने पर उसकी सत्ता उन पर अपहरणकर्ता के आतंक से सौगुनी अधिक निरंकुश होती है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शासन को अपने अधिकार का प्रयोग करने से भयभीत होना चाहिए, वरन् इतना ही कि उसे उसका विधिवत् प्रयोग करना चाहिए। इतिहास में हमें महत्वाकांक्षी तथा भीरु शासकों के हज़ारों दृष्टान्त मिलते हैं जिनका

उनके गर्व अथवा ढीलेपन से नाश हुआ, न कि उनका जो दृढ़ता से न्यायी बने रहे। परन्तु हमें लापरवाही को उदारता से, दुर्बलता को दयालुता से मिश्रित नहीं कर देना चाहिए। न्यायी होने के लिए यह आवश्यक है कि आदमी कठोर हो; दोषों को दबाने का अधिकार एवं शक्ति रहते हुए उनका अनुमोदन करना, स्वयं ही दुष्ट हो जाना है।

नागरिकों से केवल यह कहना कि 'भले बनो', पर्याप्त नहीं है। उन्हें ऐसा बनने के लिए सिखाना पड़ेगा। और दृष्टान्त भी, जो ऐसे विषयों में प्रथम पाठ होता है, प्रयोग में लाने के लिए एकमात्र साधन नहीं है; इसके लिए देश-प्रेम सबसे अधिक फलोत्पादक होता है। क्योंकि जैसा मैं पहले ही कह चुका हूँ, प्रत्येक मनुष्य जबकि उसकी व्यक्तिगत इच्छा सभी पहलुओं से सामान्य इच्छा के अनुकूल हो, सद्गुणी है और उस स्थिति में हम जिन्हें प्रेम करते हैं उनकी इच्छा ही अनजाने हमारी इच्छा बन जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त मानव जाति का आर्लिगन करने में मानवता की भावना विलुप्त हो जाती है और दुर्बल हो जाती है और यह कि हम जापान तथा तातार की विपदाओं से उसी प्रकार प्रभावित नहीं हो सकते जिस भाँति कि यूरोपीय राष्ट्रों के संकट से होते हैं। अपने हित तथा अनुकम्पा को क्रियाशील करने के लिए हमें उन्हें कुछ मात्रा में सीमित एवं संतुलित करना होगा। चूँकि यह मनोभाव उन्हीं के लिए लाभप्रद हो सकता है जिनके साथ हमें रहना है, इसलिए यह उचित है कि हमारी मानवता केवल सहचर-नागरिकों तक सीमित रहे, एक नयी शक्ति प्राप्त करे क्योंकि हम उन्हें देखने के अभ्यस्त हैं और एक सामान्य स्वार्थ उनको संयुक्त करता है। यह निश्चित है, कि सद्गुण के सबसे बड़े चमत्कार देशप्रेम द्वारा उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार की सुन्दर तथा सजीव भावना जो आत्म-प्रेम की शक्ति को सद्गुणों की समस्त सुन्दरता प्रदान करती है, उसे ऐसी ऊर्जा भी देती है जो विकृत किये बिना ही उसे समस्त मनोवेगों से अधिक साहसी बना देती है। यही है वह जो ऐसे अमर कार्यों को जन्म देती है जिसका यश हमारी दुर्बल आँखों को चकाचाँध कर देता है। वही उन बड़े-बड़े व्यक्तियों को भी पैदा करती है जिनके पुरानी दुनियावाले सद्गुण आजकल जब देशभक्ति का उपहास किया जाता है, गाथाओं की भाँति प्रचलित हो गये हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। ऐसे व्यक्तियों को जिन्होंने खुद उनका अनुभव नहीं किया है, प्रेमी हृदयों की क्रीड़ाएँ आकाश-कुसुमवत् प्रतीत होती हैं; अपने देश का प्रेम, जो एक प्रेयसी के प्रेम से सौगुना

अधिक सजीव एवं आह्लादकारक होता है, खुद उसका अनुभव किये बिना कल्पना में नहीं आ सकता। परन्तु प्रत्येक हृदय में, जिसे यह उत्पन्न कर देता है तथा उन सब कृतियों में जिन्हें यह प्रेरित करता है, सरलता से ऐसी दैदीप्यमान तथा उदात्त ओजस्विता देखी जा सकती है जो विशुद्धतम सद्गुणों का भी उससे पृथक् हो जाने पर साथ नहीं देती। सुकरात की केटो से ही तुलना कर लीजिये; एक महान् दार्शनिक था तो दूसरा अधिकांशतः नागरिक। सुकरात के जीवन-काल में ही ऐथेन्स का विनाश हो गया था और उसका दूर के विश्व के अतिरिक्त अपना कोई देश नहीं था। केटो को सदा अपने देश का हित सर्वप्रिय था, वह उसी के लिए जीता था और उसके बिना जीवित नहीं रह सकता था। सुकरात के सद्गुण सबसे बुद्धिमान पुरुष के सदृश थे परन्तु सीज़र तथा पाम्पी से तुलना करने पर केटो मानवों में देवता तुल्य लगता है। सुकरात ने कुछ व्यक्तियों को दीक्षा दी, वितण्डावादियों (Sophists) का विरोध किया और सत्य के लिए मरा। परन्तु केटो ने विश्व-विजेताओं से अपने देश, उसकी स्वतंत्रता और कानूनों की रक्षा की और अंत में भू-लोक से उस समय विदा हुआ जब उसके लिए कोई देश-सेवा करने के लिए नहीं रह गयी थी। सुकरात का योग्य शिष्य अपने समकालीनों में सबसे गुणवान होगा, परन्तु केटो का योग्य अनुयायी सबसे महान् लोगों में से एक होगा। प्रथम का सद्गुण उसका सुख होगा, जब द्वितीय अपना सुख सभी के आनन्द में ढूँढ़ेगा। प्रथम के द्वारा हमें दीक्षा मिलेगी, दूसरे के द्वारा पथ-दर्शन; अकेला यही पर्याप्त है यह निश्चित करने के लिए कि किसे ज्यादा तर्जिह दी जानी चाहिए, क्योंकि कोई जाति कभी दार्शनिकों के राष्ट्र में परिणत नहीं हुई है परन्तु एक जाति को सुखी बनाना असम्भव नहीं है।

क्या हम चाहते हैं कि मनुष्य सद्गुणी हों? यदि ऐसा है तो हम उन्हें सर्व-प्रथम अपने देश से प्रेम करना सिखायें। परन्तु वे देश को कैसे प्रेम कर सकते हैं जबकि उनके लिए अपना देश भी उसी प्रकार कुछ नहीं है जैसे वह अजनबी व्यक्तियों के लिए है और उन्हें भी बस उतना ही देता है जितना किसी को भी मना नहीं कर सकता? यह और भी बुरा होगा यदि वे (मनुष्य) सामाजिक सुरक्षा के विशेषाधिकार का भी भोग न कर सकें, और उनका जीवन, स्वतंत्रता, सम्पत्ति और अधिकारी वर्ग की स्वेच्छा पर निर्भर रहे तथा उन्हें इस बात की भी आज्ञा न हो अथवा उनके लिए संभव न हो कि वे कानून के द्वारा भी राहत प्राप्त कर सकें। क्योंकि ऐसी स्थिति में, शिष्ट (सिविल) समाज के कर्तव्यों के अधीन होते हुए,

प्राकृतिक अवस्था की सामान्य सुविधाओं का भी उपयोग किये बिना, और अपनी शक्ति को अपनी सुरक्षा में प्रयुक्त किये बिना, वे ऐसी बुरी दशा में होंगे कि कोई भी स्वतंत्र मनुष्य अपने को संभवतः उस स्थिति में नहीं पायेगा और स्वदेश शब्द का तात्पर्य उनके लिए केवल कोई घृणित एवं हास्यास्पद वस्तु होगी। ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिए कि एक मनुष्य, बिना कपाल तक पीड़ा की सूचना पहुँचे अपना बाजू तोड़ या खो सकता है। और न यही विश्वसनीय है कि सामान्य या लोक इच्छा राज्य के एक सदस्य को चाहे वह कोई हो, दूसरे को घायल अथवा नष्ट करने की स्वीकृति दे। यह वैसे ही विश्वसनीय नहीं है जैसे यह बात कि होश में एक मनुष्य स्वेच्छा से अपनी उँगलियों से ही अपनी आंखें खरोँच कर बाहर निकाल ले। व्यक्तियों की सुरक्षा का सार्वजनिक संघ से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है, कि मानवीय दुर्बलता का ध्यान रखते हुए भी वह परम्परा-अधिकार के नाते ही विघटित हो जायगी, यदि राज्य में एक भी नागरिक को मरने दिया गया अथवा यदि किसी को गलती से बंदीगृह में डाल दिया गया, या किसी मामले में स्पष्टतया अन्याय-पूर्ण दंड दे दिया गया। मूल परम्पराओं के टूट जाने पर यह सोचना असंभव हो जाता है कि कोई ऐसा अधिकार अथवा हित हो सकता है जो जन-साधारण को सामाजिक ऐक्य या बंधन में रख सके; हाँ, वे बलपूर्वक नियंत्रित किये जा सकते हैं किन्तु इसी के कारण सभ्य (सिविल) समाज का राज्य भंग हो जाता है।

क्या वास्तव में समस्त राष्ट्र द्वारा किया हुआ अनुबन्ध अपने किसी भी सदस्य को उतनी ही सतर्कता के साथ, जितना कि शेष सबके लिए आवश्यक है, सुरक्षा का आश्वासन नहीं दिलाता? क्या एक नागरिक का हित समस्त राज्य के सामान्य हित से सबके लिए किसी भाँति कम है? यह कहा जा सकता है कि एक का सबके लिए जीवनदान कर देना अच्छा है। ऐसी उक्ति जब एक योग्य एवं सद्गुणी देशभक्त की जिह्वा से निकलती है, जो इच्छापूर्वक और कर्तव्यपरायणता से देश की भलाई के लिए अपना बलिदान देता है, तो मैं उसकी प्रशंसा करने को उद्यत हूँ। परन्तु यदि उसका यह तात्पर्य हो कि शासन को जन-समुदाय के लिए एक निर्दोष मानव का बलिदान देना न्यायसंगत है तो मैं इसे निर्दयी शासन द्वारा आविष्कृत नियमों में सबसे घृणास्पद नियम समझूँगा; मैं यह भी समझूँगा कि यह सबसे बड़ा असत्य है जो प्रस्तुत किया जा सकता है! सबसे भयानक स्वीकृति है जो दी जा सकती है; और समाज के आधारभूत नियमों का सीधा खंडन है। इस तर्क में बहुत ही कम जान है कि एक व्यक्ति को सबके लिए मिट जाना चाहिए।

या यह कि सवने अपना जीवन एवं सम्पत्ति प्रत्येक के लिए बन्धक रख दी है, जिससे कि व्यक्तियों की दुर्बलताएँ सदैव जन-साधारण की शक्ति से और प्रत्येक सदस्य सम्पूर्ण राज्य से आरक्षित हो सके। मान लीजिए हम समस्त जन-साधारण में से एक के पश्चात् एक व्यक्ति लेते चले जाते हैं और तब इस नियम के समर्थकों को अधिक स्पष्ट रूप से व्याख्या करने के लिए बाध्य करते हैं कि उनका राज्य के शरीर से क्या तात्पर्य है तो हम देखेंगे कि अन्त में राज्य एक बहुत ही छोटे व्यक्तियों के समुदाय में परिणित हो जायगा जो जनता नहीं है वरन् जनता के पदाधिकारी हैं और जो व्यक्तिगत शपथ द्वारा राष्ट्र के हित के निमित्त बलिदान करने के लिए बंधे होते हुए भी यह निष्कर्ष निकालेंगे कि जन-साधारण को ही उनके लिए बलिदान होना है।

तो क्या फिर हम उन आरक्षण के दृष्टान्तों को खोजें जिनके लिए राज्य अपने सदस्यों के प्रति ऋणी है और वह सम्मान जो उसे उन्हें देना चाहिए? इन दृष्टान्तों को सबसे विख्यात तथा साहसी राष्ट्रों में ही पाया जा सकता है। मनुष्य की प्रतिष्ठा केवल स्वतंत्र राष्ट्रों में ही अनुभव की जा सकती है। यह सर्वविदित है कि जब एक अभियुक्त नागरिक को दण्ड देने का प्रश्न उठा था तो स्पार्टा का समस्त गणतंत्र किस परेशानी में डूब गया था।

मकदूनिया (Macedonia) में मनुष्य का जीवन इतने महत्त्व का था कि सिकन्दर महान् अपनी कीर्ति की पराकाष्ठा के युग में भी एक मकदूनिया निवासी अभियुक्त को उस समय तक मृत्युदंड के लिए आज्ञा देने का साहस नहीं करता था जब तक कि सहचर नागरिकों के सम्मुख उसे अपनी सफाई देने का अवसर न मिल चुका हो और वह उनके द्वारा अपराधी न ठहराया गया हो। परन्तु रोम-निवासियों की सरकार ने व्यक्ति को जो सम्मान दिया और राज्य के समस्त सदस्यों के अलङ्घ्य अधिकारों की रक्षा पर जितना ध्यान दिया, उससे उसने अपने को और सब राज्यों के ऊपर उठा लिया। उसके सम्मुख एक नागरिक के जीवन से बढ़कर पवित्र और कुछ नहीं था और एक को भी दोषी ठहराने के लिए समस्त जन-साधारण की सभा से कम की आवश्यकता नहीं थी। न राज्य-सभा (सीनेट) को और न परामर्शदाताओं (Consuls) को उनके समस्त वैभव के साथ भी, यह अधिकार प्राप्त था। किसी भी नागरिक को अपराधी ठहराकर दंड देना, विश्व के उस सर्वशक्तिशाली राष्ट्र में भी एक सार्वजनिक विपदा समझी जाती थी। किसी भी अपराध के लिए मृत्युदण्ड देकर रक्त बहाना इतना कठिन

प्रतीत होता था कि लेक्सपोर्शिया (Lexporcia) के नियम के अनुसार मृत्यु-दण्ड को उन व्यक्तियों के देश निर्वासन में परिवर्तित कर लिया गया जो एक महान् देश से दूर रहने की हानि को सहन करके जीवित रहने को तैयार थे। रोम तथा रोम की सेनाओं दोनों की हर बात से सहचर नागरिकों के पारस्परिक प्रेम की भावना प्रकट होती थी तथा रोम नाम के प्रति सम्मान की भावना इस प्रकार ओतप्रोत थी कि प्रत्येक नागरिक रोमन नाम वहन करके साहस तथा सद्गुणों से भर उठता था। दासता से मुक्त नागरिक का मुकुट तथा दूसरे नागरिक का जीवन बचानेवाले का नागरिक मुकुट (Civic crown), उनकी विजयों के वैभव में अत्यधिक आनन्द के साथ देखा जाता था; यह महत्त्वपूर्ण है कि युद्ध में शौर्य प्रदर्शन या वीर कार्यों के लिए सम्मानस्वरूप जो मुकुट प्रदान किये जाते थे उनमें से केवल नागरिक मुकुट तथा विजयी सेनापति के मुकुट ही लारेल वा जयपत्रों के बने होते थे। दूसरे सब सोने के होते थे। अस्तु इसी प्रकार रोम सद्गुणी एवं विश्व-विजेता हुआ। महत्त्वाकांक्षी शासको! एक गड़रिया अपने कुत्तों तथा जन्तुओं पर शासन करता है, फिर भी मानव जाति में सबसे अधिक तुच्छ है। आदेश देना उसी समय उत्तम लगता है जबकि हमारी आज्ञा का पालन करनेवाले हमें सम्मान देने के योग्य हों। इसलिए, अपने सहचर नागरिकों के प्रति सम्मान प्रकट करो; तुम स्वयं सम्मान योग्य हो जाओगे। स्वतंत्रता का सम्मान करो, तुम्हारी शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ेगी। अपने अधिकारों की सीमा को कभी न लाँघो, वे शीघ्र ही असीमित हो जायेंगे।

ऐसी दशा में हमारे देश को अपने सब नागरिकों की एक ही माता के रूप में प्रकट होने दो; जिन सुविधाओं को देश में वे भोगते हैं, उनके कारण देश को उनका प्रिय बनने दो; सरकार द्वारा सार्वजनिक प्रशासन में उनके लिए पर्याप्त भाग छोड़ देने दो, जिससे वे अनुभव करें कि वे अपने घर में हैं; उनकी दृष्टि में कानून को सामान्य स्वतंत्रता की प्रतिभूति या गारंटी समझने दो। यह अधिकार जो महान् है, सभी मानवों की निधि है। परन्तु यह न जान पड़ते हुए भी कि उन पर सीधे आक्रमण किया जा रहा है, शासकों की दुर्भावना उनके प्रभाव को शून्य-तुल्य कर सकती है। जिस कानून का वे इस प्रकार दुरुपयोग करते हैं, वह शक्तिशाली के हाथ में तुरन्त एक आघात पहुँचानेवाला शस्त्र और दुर्बल के लिए एक सुरक्षा की ढाल बन जाता है और सार्वजनिक कल्याण का भुलावा जन-साधारण के लिए सदा ही सबसे घातक संकट सिद्ध होता है। शासन में अत्यन्त आवश्यक और

संभवतः कठिनतम बात है कठोर ईमानदारी के साथ सबके प्रति विशुद्ध न्याय करना और सबके ऊपर दुर्बलों की धनिकों के अत्याचार से रक्षा करना। सबसे बड़ा दोष तो पहले ही घटित हो चुका है जबकि दुर्बल मनुष्य सुरक्षा के लिए और धनिक रोक-थाम के लिए मौजूद हैं। केवल मध्यमवर्गीय मनुष्य ही ऐसे हैं जिन पर कानून का सम्पूर्ण प्रभाव व्यक्त होता है। धनिकों की निधियों तथा दरिद्रों की निर्धनता के विरुद्ध वे समानरूप से शक्तिहीन हैं। प्रथम तो उनका परिहास करता है; द्वितीय उनसे दूर भागता है। एक जाल को तोड़ता है, दूसरा उसके मध्य से निकल जाता है।

इसलिए वैभव की असीमित असमानताओं को रोकना शासन के अत्यन्त महत्वपूर्ण कर्तव्यों में से है। स्वामियों से सम्पत्ति का अपहरण करके नहीं वरन् सभी मनुष्यों को धन एकत्र करने के साधनों से वंचित करके; दरिद्रों के लिए चिकित्सालय बनवाकर नहीं वरन् दरिद्र बनने से नागरिकों की रक्षा करके। देश भर में जनसंख्या का असमान वितरण दिखायी पड़ता है; मनुष्य एक ही स्थान पर एकत्र हैं जब अन्य स्थान जनशून्य पड़े हैं, विलासिता बढ़ानेवाली तथा केवल औद्योगिक कलाओं की सेवा करनेवाली विद्याओं को प्रोत्साहित किया जाता है तथा लाभदायक एवं परिश्रमशील दस्तकारियों की उपेक्षा की जाती है; वाणिज्य के पक्ष में कृषि का त्याग किया जा रहा है; राज्य की निधि की कुव्यवस्था से करदाता कृपको पर दवाव बढ़ रहा है, संक्षेप में अर्थ की दासता इतनी बढ़ गयी है कि सार्वजनिक सम्मान का मूल्यांकन नकद पैसों में और सद्गुणों का बाजार भाव पर होने लगा है; यही समस्त धन, ऐश्वर्य और दरिद्रता के, सार्वजनिक स्वार्थ के, नागरिकों में पारस्परिक ईर्ष्या के, सामान्य हित के प्रति उदासीनता के, जन साधारण में भ्रष्टाचार के, और शासन के सभी शक्ति-स्रोतों की दुर्बलता के सर्व-स्पष्ट कारण हैं। वे दोष ऐसे हैं, जिनका एक बार उदय हो जाने पर अत्यन्त कठिनाई से ही परिष्कार किया जा सकता है परन्तु जिन्हें एक बुद्धिमान शासन को, यदि उसे उत्तम आचरणो, कानून के प्रति श्रद्धा, देशभक्ति और सामान्य निर्णय को प्रभावशाली बनाकर जीवित रहना है तो अवश्य रोकना चाहिए।

परन्तु ये सभी सावधानियाँ अपर्याप्त होंगी, जब तक कि शासकगण बात के मूल तक न जायें। मैं सार्वजनिक अर्थ-व्यवस्था के इस अंश को यही समाप्त करता हूँ जहाँ कि मुझे आरंभ करना चाहिए था। स्वतंत्रता के बिना कोई देश-भक्ति नहीं हो सकती, बिना सद्गुण के स्वतंत्रता नहीं हो सकती, बिना

नागरिकों के सद्गुण नहीं हो सकते। केवल नागरिकों का सृजन कीजिए और आपको सभी वांछनीय वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी। बिना नागरिकों के आपको राज्यों के शासकों से लेकर निम्न स्तर तक सभी केवल भ्रष्ट दासों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलेंगे। नागरिकों का सृजन एक दिन का कार्य नहीं है और मनुष्य बनाने के लिए बाल्यावस्था से ही शिक्षा देना आवश्यक है। संभवतः यह कहा जायगा कि जिस किसी के भी पास प्रशासकीय क्षमता-सम्पन्न मनुष्य हैं, उसे उनके स्वभाव की सीमा के बाहर ऐसी पूर्णता नहीं ढूँढ़नी चाहिए, जिसके वे अयोग्य हैं, न उनकी भावनाओं को नष्ट करने की इच्छा करनी चाहिए, और ऐसा प्रयास न तो सम्भव है, न वांछनीय। मैं इसे स्वीकार करता हूँ बल्कि इसके भी आगे जाकर कहूँगा कि मनोवेगों के बिना एक मनुष्य अवश्य ही बुरा नागरिक होगा। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि यदि मनुष्यों को कुछ चीजों से प्रेम करना न सिखलाया जाय तो उन्हें एक वस्तु से अधिक दूसरे को प्यार करना तथा जो विकृत है उसकी अपेक्षा वास्तव में सुन्दर को पसंद करना सिखलाना भी अयम्भव है। उदाहरणार्थ, यदि वे प्रारम्भ से ही अपने व्यक्तित्व को राज्यनिकाय से सम्बन्धित मानने के अभ्यस्त हो जायँ तो बाद में वे अपने को कुछ न कुछ मात्रा में उस बड़े सम्पूर्ण से अभिन्न समझने और अपने देश के सदस्य मानने एवं उसे उस असामान्य भावना के साथ प्यार करने में समर्थ होंगे जो एकात्मिक एवं विच्छिन्न मनुष्य केवल अपने प्रति ही रख सकता है। उनकी प्रवृत्तियों को स्थायी रूप से इस महान् लक्ष्य की ओर प्रेरित करके उस भयानक अनुभूति को एक भव्य सद्गुण में परिवर्तित कर लेना चाहिए, जो हमारे समस्त दोषों को जन्म देती है। केवल दर्शनशास्त्र ही इन भावनाओं को नवीन दृष्टिकोण प्रदान करने की संभावना नहीं दिखाता, इतिहास भी हजारों आश्चर्यजनक दृष्टान्त प्रस्तुत करता है। यदि हम आधुनिकों में वे इतने कम हैं, तो इस कारण से कि हममें कोई इस बात की चिन्ता नहीं करता कि नागरिक विद्यमान हैं अथवा नहीं, और इस बात को तो लोग और भी कम सोचते हैं, कि कैसे उनका निर्माण किया जा सकता है। अपनी नैसर्गिक प्रवृत्तियों की गतिविधि को, जब वे अपना एक रास्ता पकड़ लेंगी तथा अहंभाव, अभ्यास वा स्वभाव द्वारा पुष्ट हो जायगा, बदलना अत्यन्त दुष्कर होगा। जब हमारे हृदय में बैठा मानवी अहंभाव उस घृणित क्रिया को उपाजित कर लेगा जो सद्गुणों को निगल जाती है और छोटे बुद्धिवाले मनुष्यों के जीवन एवं अस्तित्व का गठन करती है तो हमें स्वयं को उससे ऊपर उठाने के लिए बड़ी देर हो जायगी। देशभक्ति इतने अधिक और ऐसे मनोवेगों के मध्य

किस प्रकार अंकुरित हो सकती है जो उसका गला घोट डालते हैं? और ऐसे हृदय में, जो तृष्णा रूपी प्रेमिका और अहंकार के बीच पहिले से ही विभाजित हो, सहचर नागरिकों के लिए क्या बच सकता है?

जीवन के प्रथम क्षण से मनुष्य को जीवित रहने के योग्य बनना सीखना आरंभ कर देना चाहिए; और जैसे जन्म के समय से ही हम नागरिकता के अधिकारों का एक अंश ले लेते हैं, वैसे ही वह क्षण हमारे कर्त्तव्य के कार्यान्वय के श्रीगणेश का भी होना चाहिए। यदि प्रौढ़ावस्था के लिए कानून है तो बाल्यावस्था के लिए भी आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ाने का कानून होना चाहिए और जैसे प्रत्येक मनुष्य के तर्क को, उसके कर्त्तव्यों के विषय में एकमात्र निर्णायक बनने के लिए छोड़ा नहीं जा सकता, उसी प्रकार शासन को अविवेकपूर्वक बालकों की शिक्षा उनके पिताओं की बुद्धिमत्ता तथा व्यक्तिगत पक्षपात पर नहीं छोड़ देना चाहिए क्योंकि वह शिक्षा पिताओं से अधिक राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण है। प्रकृति की गतिविधि के अनुसार पिता की मृत्यु उसे शिक्षा के अन्तिम फल-भोग से वंचित कर देती है परन्तु देर-सवेर उसके देश पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ता है। परिवार विघटित हो जाते हैं, परन्तु राज्य विद्यमान रहता है।

यदि लोकसत्ताधारी पिता का स्थान लेकर तथा उस महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य के पालन का भार ग्रहण करते हुए, अधिकार उर्पाजित करेगा तो उसको शिकायत करने का अवसर कम मिलेगा क्योंकि वह केवल अपने आगम या अधिकार (टाइटिल) में परिवर्तन करेगा और नागरिक के नाम से अपने बच्चों पर वही सत्ता धारण करेगा जिसका प्रयोग वह पृथक् रूप से पहिले पिता के नाम पर कर रहा था और यदि वह कानून के नाम पर कुछ कहेगा तो उसकी आज्ञा का पालन उससे कम नहीं होगा जितना प्रकृति के नाम पर (पिता के रूप में) आज्ञा देने की अवस्था में होता। इसलिए सार्वजनिक शिक्षा, शासन द्वारा निर्दिष्ट नियमों के तथा सम्राट या राजसत्ताधारी द्वारा नियुक्त दंडाधिकारियों के अधीन जनतांत्रिक तथा वैध शासन के आधारभूत नियमों में से एक है। यदि बच्चों का पालन-पोषण समता की गोद में साथ-साथ हो; यदि वे राज्य के कानूनों की भावना से और सामान्य इच्छा से ओत-प्रोत हों; यदि उन्हें सबके ऊपर इन वस्तुओं का सम्मान करना सिखाया जाय; यदि वे ऐसे दृष्टान्तों तथा पदार्थों से घिरे हों जो अनवरत रूप से उस कोमल माता का स्मरण दिलाते हों जो उनका पालन-पोषण करती है, उनके प्रति प्रेम प्रकट करती है, अनेक अमूल्य लाभों को जो वे उससे पाते हैं, और जिस प्रतिदान के

लिए वे उसके सम्मुख ऋणी हैं तो हमें सन्देह नहीं हो सकता कि वे एक दूसरे को भ्रातृभाव से प्यार करने लगेंगे, समाज की इच्छा के विपरीत कोई इच्छा नहीं करेंगे, मनुष्यों एवं नागरिकों के कर्त्तव्यों के स्थान पर मिथ्यावादियों की व्यर्थ की तथा गर्वीली बकवास को स्थान नहीं देंगे और कालान्तर में देश के पिता तथा रक्षक बन जायेंगे जिसके इतने समय से वे बच्चे रहे।

राज्य के सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य ऐसी शिक्षा के भावी अधिष्ठाता दंडाधिकारियों के विषय में, मैं कुछ नहीं कहूँगा। यह देखना सरल है कि यदि सार्वजनिक विश्वास के इस प्रकार के चिह्न मामली आदमियों को सौंप दिये जायेंगे और ऐसे विशिष्ट कर्त्तव्य का भार उन लोगों पर नहीं डाला जायगा जिन्होंने अन्य पदों का भार योग्यता से वहन किया है तो परिश्रम का उपहार वृद्धावस्था का सम्माननीय विश्राम और समस्त उपाधियों का मुकुट, ये समस्त साहसिक कार्य व्यर्थ हो जायेंगे और शिक्षा निष्फल हो जायगी। क्योंकि जहाँ कहीं भी उपदेश सत्ता से और सिद्धान्त दृष्टान्त से समर्थित नहीं है, समस्त दीक्षा निष्फल हो जाती है और ऐसे मनुष्य के सम्मुख जो उसका पालन नहीं करता, सद्गुण भी अपनी श्रद्धा खो देता है। प्रसिद्ध योद्धाओं को, जो अपनी ही विजय-श्री के भार से नत हैं, साहस का उपदेश देने दो; न्यायालय एवं सम्राट की प्रतिष्ठा में वृद्धावस्था को प्राप्त हुए सच्चे दण्डाधिकारियों को न्याय का पाठ पढ़ाने दो। इस प्रकार के अध्यापक स्वयं ही सद्गुणी उत्तराधिकारी प्राप्त करेंगे और युग-युगान्तर में आनेवाली सन्तति को शासकों का अनुभव तथा योग्यता, नागरिकों का साहस एवं सद्गुण सम्प्रेषित करते रहेंगे और सबमें अपने देश के लिए जीने व मरने की सामान्य ललक पैदा करेंगे।

मैं केवल तीन जातियों के विषय में जानता हूँ जिन्होंने सार्वजनिक शिक्षा का प्रयोग किया था; क्रीट निवासी (The Cretans), लेसीडीमोनियन (Lacedemonians) तथा प्राचीन ईरानी (Persians); इन सभी में इसे अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई थी और वास्तव में अंतिम दो में तो इसने आश्चर्यजनक कार्य किया। चूँकि संसार ऐसे बड़े-बड़े राष्ट्रों में विभाजित हो गया है जिन पर उत्तम शासन चलाना कठिन है, यह प्रयोग किसी सीमा तक व्यावहारिक नहीं रह गया है और पाठक को शीघ्र ही वे अन्य कारण ज्ञात हो जायेंगे जिनसे आधुनिक राष्ट्रों में से किसी एक ने भी ऐसा प्रयोग नहीं किया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि रोम-निवासी इसको त्यागने में समर्थ हुए थे परन्तु स्वयं रोम ५०० वर्षों

तक एक ऐसा अविच्छिन्न कौतुक था जिसे संसार पुनः देखने की आशा नहीं कर सकता। रोम निवासियों के सद्गुणों ने, जो निष्ठुर शासन की बीभत्सताओं तथा स्वेच्छाचारियों के भय से तथा सहज देशभक्ति से उत्पन्न हुए थे, प्रत्येक परिवार को नागरिकता के विद्यालय के रूप में परिवर्तित कर दिया। अपने बच्चों पर पिता की असीमित शक्ति ने व्यक्तिगत सत्ता को इतना कठोर बना दिया कि पिता का भय दण्डाधिकारियों से कहीं अधिक था और अपने पारिवारिक न्यायाधिकरण में वह सदाचारों की छानबीन करनेवाला अधिकारी (सेंसर) तथा कानूनों का बदला लेनेवाला था।

इस प्रकार से सतर्क, उत्तम अभिप्राय युक्त तथा अनवरत रूप से जनता में देशभक्ति एवं सदाचार का रक्षण अथवा पुनः स्थापन करनेवाला शासन, उन दोषों के विरुद्ध, जो देर-सवेर गणतंत्र के भविष्य के प्रति उदासीनता से उत्पन्न होते हैं, पहले से ही प्रबन्ध रखता है और उस व्यक्तिगत स्वार्थ को संकुचित सीमा में रखता है जो व्यक्ति को इस प्रकार विलग कर देता है कि राज्य उसकी शक्ति से दुर्बल हो जाता है और उसकी सद्भावनाओं से कोई आशा नहीं रख पाता। जहाँ कहीं भी मनुष्य अपने देश को प्रेम करते हैं, कानूनों का आदर करते हैं, सीधे-सादे ढंग से रहते हैं, वहाँ उन्हें सुखी रखने के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रह जाता और सार्वजनिक प्रशासन में, जहाँ दैवसंयोग का प्रभाव व्यक्तियों के जीवन में दिखायी पड़नेवाले प्रभाव से कहीं कम होता है, विवेक का मुख्य से इतने निकट का सम्बन्ध है, कि दोनों को पहचानने में भ्रम हो जाता है।

३. नागरिकों का होना और उनकी सुरक्षा ही पर्याप्त नहीं है, यह भी आवश्यक है कि उनकी आजीविका पर भी विचार किया जाय। सामान्य या लोक-इच्छा से सार्वजनिक आवश्यकताओं के प्रबन्ध का स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है और यही शासन का तीसरा प्रधान कर्तव्य हो जाता है। हमें यह अनुभव करना चाहिए कि इस कर्तव्य का अर्थ यह नहीं है कि व्यक्तियों के अनाज के भंडार या खत्तियों को भरपूर कर दिया जाय और इस प्रकार श्रम से उन्हें मुक्ति प्रदान कर दी जाय बल्कि उनकी इतनी पहुँच में रखा जाय कि उसकी प्राप्ति के लिए श्रम सदैव आवश्यक रहे और कभी व्यर्थ न हो। यही बात राज्य-कोष के प्रबंध तथा सामान्य प्रशासन-व्यय के विषय में भी सत्य है। व्यक्तियों के शासन के प्रसंग में सामान्य अर्थ-व्यवस्था का इस प्रकार वर्णन करके अब हमें इस पर सम्पत्ति-प्रशासन के प्रसंग में विचारना चाहिए।

यह भाग, सुलझाने के लिए और परस्पर-प्रतिकूलताएँ दूर करने के लिए पूर्व भाग से कम समस्याएँ प्रस्तुत नहीं करता। यह निश्चित है कि सम्पत्ति का अधिकार नागरिकता के समस्त अधिकारों में सबसे पवित्र है और कुछ परिस्थितियों में स्वयं स्वतंत्रता से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। या तो ऐसा इसलिए है कि वह बहुत समीप से जीवन-रक्षा पर प्रभाव डालता है या इस कारण से कि सम्पत्ति कहीं अधिक सरलता से अपहृत की जा सकती है और उसकी रक्षा जीवन से भी ज्यादा कठिन होती है। कानून को उसकी ओर अधिक ध्यान देना ही चाहिए जो सरलता से छीनी जा सकती हो। अन्त में सम्पत्ति शिष्ट समाज की सच्ची नींव है, और नागरिकों के व्यवसाय-धन्धों की वास्तविक प्रतिभू या गारंटी है। यदि व्यक्तिगत कार्यों के लिए सम्पत्ति उत्तरदायी न हो तो कर्तव्यों की उपेक्षा करने से तथा कानूनों का उपहास करने से सरल कोई कार्य नहीं रह जायगा। दूसरी ओर यह भी निश्चित है कि राज्य तथा शासन के संचालन में व्यय होता है। और चूकि प्रत्येक व्यक्ति जो लक्ष्य के विषय में स्वीकृति देता है वह साधनों के विषय में भी मौन सहमति देगा, इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी समाज के सदस्यों को उसके संचालन के लिए अपनी सम्पत्ति में से कुछ न कुछ भेंट देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त एक ओर बिना दूसरे की सम्पत्ति को हानि पहुँचाये व्यक्तियों की सम्पत्ति की सुरक्षा कठिन है और यह भी असम्भव है कि सभी नियम जो उत्तराधिकार-क्रम को उत्तराधिकार-पत्र (वसीयत), अनुबन्ध आदि को नियमित करते हैं, वे व्यक्तियों के अपनी चीजों के वितरण पर कुछ प्रतिबन्ध न रखें और फलस्वरूप सम्पत्ति के अधिकार को सीमित न करें।

परन्तु नागरिक की स्वतंत्रता तथा कानून की सत्ता के बीच समझौते के बारे में जो कुछ मैंने ऊपर कहा है उसके अतिरिक्त वस्तुओं के वितरण के विषय में, अनेक कठिनाइयों को दूर करनेवाला एक महत्वपूर्ण पर्यवेक्षण करना अभी शेष है। जैसाकि पफेंडोर्फ (Puffendorf) ने दर्शाया है, सम्पत्ति का अधिकार, स्वभावतः स्वामी के जीवन काल से आगे नहीं बढ़ता है और जैसे ही मनुष्य की मृत्यु हो जाती है उसकी वस्तुएँ उसकी नहीं रह जातीं। अस्तु, ऐसी शर्तें निर्धारित करना जिनसे वह सम्पत्ति की व्यवस्था कर सके वास्तव में, जैसा प्रतीत भी होता है, उसके अधिकार को बदलना नहीं है वरन् उसे और व्यापक बनाना है।

यद्यपि उन कानूनों का संचालन, जो अपनी वस्तुओं के वितरण में व्यक्तियों के

अधिकार को नियमित करते हैं, केवल राजसत्ताधारी (सम्राट) का विशेषाधिकार है। इन कानूनों की भावना, जिसका अनुसरण शासन को उनके प्रयोग के विषय में करना चाहिए, यह है कि पिता से पुत्र, और सम्बन्धी से सम्बन्धी को परिवार की सम्पत्ति उसके बाहर कम से कम जानी चाहिए या उससे कम से कम विलग होनी चाहिए? इसके लिए बालकों के पक्ष में एक बुद्धिसंगत तर्क भी है। क्योंकि यदि पिता उनके लिए कुछ नहीं छोड़ जायेंगे जो अपने श्रम से पिता के धन को उपार्जित करने में योग देने के अलावा अपने अधिकार से भी उसकी सम्पत्ति के अधिकार में साथी हैं, तो उनके लिए सम्पत्ति का अधिकार बिलकुल निरर्थक हो जायगा। परन्तु दूसरा कारण, अधिक दूरस्थ होने पर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि सदाचार तथा गणतंत्र के लिए नागरिक की मर्यादा तथा सौभाग्य के अनवरत परिवर्तन से अधिक और कोई चीज घातक नहीं होती। ऐसे परिवर्तन सहस्रों विप्लवों के स्रोत तथा प्रमाण दोनों हैं और वे प्रत्येक वस्तु को उलट देते हैं अथवा गड़बड़-घुटाले में डाल देते हैं। क्योंकि जो एक स्थिति के लिए पालित-पोषित हुए थे, वे भाग्य से अपने को दूसरे के लिए निदिष्ट पाते हैं और न ऊपर उठते हैं, न जो पतनोन्मुख होते हैं, तथा आचरण के नियमों को ग्रहण नहीं कर पाते, वे ऐसी योग्यताओं को अधिकृत करने के भी अयोग्य होते हैं जो उनकी नवीन स्थिति के लिए आवश्यक होती हैं, फिर उन कर्त्तव्यों का पालन तो वे क्या करेंगे जो यह नवीन स्थिति उन पर डालती है। अब मैं राज-वित्त के लक्ष्य पर विचार करता हूँ।

यदि जन-साधारण स्वयं अपना शासन करते और राज्य के प्रशासन तथा नागरिकों के बीच कोई मध्यस्थ न होता तो उनके लिए सार्वजनिक आवश्यकताओं और व्यक्तियों की योग्यताओं के अनुपात में कभी-कभी अपने ऊपर कर का निर्धारण करने के अलावा और कुछ करना शेष नहीं रह जाता और चूँकि वे सब ऐसे करों की वसूली और उसके सदुपयोग का ध्यान रखेंगे अतः उनके प्रबन्ध में किसी धोखा-घड़ी अथवा दुरुपयोग की गुंजाइश नहीं रहेगी; राज्य कभी ऋणग्रस्त नहीं होगा, न जनता करों के भार से दबी रहेगी और धन कैसे व्यय होता है यह ज्ञान कम से कम करों की कठोरता में सान्त्वना का कार्य करेगा। परन्तु कार्य-संचालन इस प्रकार नहीं हो सकता। उल्टे, राज्य चाहे कितना छोटा हो, नागरिक (सिविल-सुसाइटीज) सदैव ही इतनी अधिक जनसंख्या वाले होते हैं कि उनके सभी सदस्यों द्वारा सीधा प्रशासन कठिन हो जाता है। यह आवश्यक है कि सार्वजनिक धन

शासकों के हाथों से व्यय हो क्योंकि राज्य के हितों के अतिरिक्त उन सबके अपने व्यक्तिगत स्वार्थ भी होते हैं, जिनका ध्यान रखना ही पड़ता है। दूसरी ओर, जन-साधारण सार्वजनिक आवश्यकताओं से कहीं अधिक अपने शासकों की धन-लिप्सा तथा उनका अविश्वसनीय व्यय देखकर, अपने को आवश्यकताओं से वंचित होते देखकर तथा दूसरों को अनावश्यक वस्तुओं से सम्पन्न होते देखकर बड़बड़ाते हैं। और जब ये शिकायतें कटुता की सीमा तक पहुँच जाती हैं, तो अत्यन्त सरल प्रशासन के लिए भी फिर से विश्वास पैदा करना असंभव हो जाता है। ऐसे मामले में, ऐच्छिक अंशदान से कुछ नहीं होता, और बलपूर्वक प्राप्त अंशदान अवैध होते हैं। तब केवल यह निष्ठुर विकल्प रह जाता है कि या तो राज्य का सर्वनाश हो या सम्पत्ति के उस पवित्र अधिकार का उल्लंघन हो, जो राज्य का सहायक है। न्याय-संगत तथा विवेकपूर्ण अर्थ-व्यवस्था की सबसे बड़ी कठिनाई यही है।

कानूनों के प्रतिष्ठापन के पश्चात् गणतंत्र के संस्थापक को सर्वप्रथम पग यही उठाना चाहिए कि दंडाधिकारियों तथा अन्य अधिकारियों के भरण-पोषण के लिए और साथ ही साथ अन्य सार्वजनिक व्यय के लिए धन की व्यवस्था करे। यह निधि यदि द्रव्य के रूप में है तो एरेरियम (aerarium) अथवा फिस्क (fisc) कहलाती है और यदि वह भूमि के रूप में होती है तो 'पब्लिक डिमेन्स' या सार्वजनिक भू-सम्पत्ति। स्पष्ट कारणों से इसे कहीं अधिक वरीयता दी जानी चाहिए। जिस किसी ने इस विषय पर विचार किया होगा वह बोदाँ (Bodin) के मत का होगा, जो सार्वजनिक भू-सम्पत्ति को राज्य की आवश्यकताओं के प्रबन्ध के लिए सबसे प्रशंसनीय तथा निश्चित साधन समझता है। यह भी महत्वपूर्ण है कि रोमूलस (Romulus) ने अपने भूमि-विभाजन में पहिले राज्य के लिए एक-तिहाई भाग पृथक् कर दिया। मैं इसे स्वीकार करता हूँ कि भू-सम्पत्ति की उपज के लिए, उसकी बुरी व्यवस्था होने पर विनष्ट हो जाना असंभव नहीं है, परन्तु कुशासित होना सार्वजनिक भू-सम्पत्ति का तत्व नहीं है।

इससे पहले कि इस निधि का कोई उपयोग हो, इसे ऐसी जन-सभा अथवा देश की जमींदारियों की संस्था द्वारा समर्पित वा स्वीकृत होना चाहिए जो भविष्य में इसका प्रयोग भी निर्धारित करे। इस अनुष्ठान के पश्चात् जो ऐसी निधियों को अविच्छेद्य बना देती है, एक प्रकार से उनकी मूल प्रवृत्ति ही बदल जाती है और आय इतनी

पवित्र हो जाती है कि उसका गलत प्रयोग अथवा जिस कार्य के लिए वह नियत की गयी उसके अलावा दूसरे काम में उसका दुरुपयोग न केवल अत्यन्त कलंकपूर्ण चोरी बल्कि देशद्रोह समझा जाता है। रोम के लिए यह बड़े अपमान का विषय था कि सेंसर केटो की सत्यशीलता इतनी अपूर्व थी एक सम्राट ने संगीतकार को उसकी विशेषताओं के लिए चन्द्र काउन से पुरस्कृत करते समय घोषित करना आवश्यक समझा कि वह धन उसकी व्यक्तिगत निधि से आया है न कि राजकोष से। हमें चंद गैल्बास (Galbas) तो मिल जाते हैं, पर हम केटो कहाँ ढूँँ ? क्योंकि जब दोष, अपराध ही अपमानजनक नहीं रहे तो कितने प्रधान ऐसे ईमानदार होंगे जो सार्वजनिक राजस्व को, जो उनकी स्वेच्छा पर छोड़ दिया गया है, व्यय करने से विलग रहेंगे। और कितने ऐसे हैं जो अपनी स्वयं की खर्चीली एवं निन्दनीय फिजूलखर्चियों को राज्य के यश के ऊपर न मढ़ दें और राज्य की शक्ति बढ़ाने के बहाने अपनी शक्ति न बढ़ानें लगे ? प्रशासन के इस सुकुमार अंग में सद्गुण ही एकमात्र प्रभावशाली यंत्र और दंडाधिकारियों की सत्यशीलता ही उसकी धनलिप्सा पर एकमात्र वास्तविक रुकावट है। लेखा की पंजिकाएँ एवं निरीक्षण प्रपंचों को अभिव्यक्त करने के स्थान पर केवल उन्हें छिपाते हैं क्योंकि बुद्धि नवीन सावधानियों की कल्पना करने में इतनी तत्पर नहीं रहती जितनी कि धूर्तता उन्हें छल से भगा देने में रहती है। ऐसी अवस्था में लेखा-पंजिकाओं तथा अन्य प्रपत्रों की परवाह न करो; वित्त-प्रबन्ध ईमानदार हाथों में सौंपो; यही एक उपाय उसे निष्ठापूर्वक संचालित कराने का है।

जब सार्वजनिक निधियों की एक बार स्थापना हो जाती है तो राज्य के शासक अपने अधिकार से उसके प्रशासक हो जाते हैं, क्योंकि यह प्रशासन शासन का वह अंग है जो सदैव अनिवार्य है, यद्यपि सदैव समान नहीं। इसका प्रभाव अनुपात में बढ़ता है जबकि अन्य साधनों का घटता जाता है और यह कहना युक्तिसंगत होगा कि जब धन के अतिरिक्त शासन के अन्य स्नायु नहीं रह जाते तो वह शासन भ्रष्टाचार के अन्तिम चरण तक पहुँच जाता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक शासन शिथिल होने लगता है। यह इतना दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि कोई राज्य, जब तक कि उसकी राजस्व-आय अनवरत रूप से बढ़ती न रहती हो, जीवित नहीं रह सकता।

इस वृद्धि की आवश्यकता का प्रथम ज्ञान राज्य की आन्तरिक अव्यवस्था का प्रथम चिह्न भी है और बुद्धिमान प्रशासक, वर्तमान आवश्यकता का प्रबन्ध करने

के साधन खोज निकालने का प्रयास करते हुए भी नवीन आवश्यकता के दूरस्थ कारण का पता लगाने में किसी बात की उपेक्षा नहीं करेगा। ठीक उसी प्रकार जैसे एक नाविक अपनी नाव में पानी भरते देखकर पम्प पर काम करते हुए भी छिद्र को खोजने एवं बन्द करने की उपेक्षा नहीं करेगा।

इस नियम से वित्त-प्रशासन का सबसे महत्वपूर्ण नियम निकाला जा सकता है राजस्व में वृद्धि करने की अपेक्षा आवश्यकताओं की वृद्धि पर निगाह रखना, उन्हें रोकने का कष्ट उठाना ज्यादा अच्छा है। क्योंकि चाहे जितना प्रयत्न किया जाय बुराई हो चुकने के बाद ही उसका मोचन होता है और यह मोचन भी बुराई की अपेक्षा इतना धीमा होता है कि अपने पीछे क्षति के आघात-चिह्न अवश्य छोड़ जाता है। जिस समय एक दोष के लिए उपाय ढूँढ़ा जा रहा होता है, उसी समय दूसरा अपना प्रभाव अनुभव कराने लगता है और कभी-कभी तो स्वयं उपाय ही नवीन कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी स्थिति में अन्त में राष्ट्र ऋणग्रस्त हो जाता है और जनता उत्पीड़ित हो उठती है। उधर शासन का प्रभाव क्षीण हो जाता है और वह बहुत बड़ी धनराशि के साथ भी बहुत कम कार्य सम्पादित कर सकता है। मैं कल्पना करता हूँ कि केवल इस नियम को समझ लेने के कारण ही प्राचीन सरकारें अद्भुत कार्य सम्पादित करती थी, और मितव्यय के साथ उससे कहीं अधिक कार्य कर लेती थीं जितना आज हमारी सरकारें अपने सारे खजाने के साथ भी नहीं कर पातीं। और संभवतः इसी से 'इकोनोमी' (किफायत) या मितव्यय शब्द का सामान्य प्रयोग उत्पन्न हुआ है जिसका तात्पर्य यह है कि हमारे पास जो कुछ है उसका हम विवेकयुक्त प्रबन्ध करें। न कि हमारे पास जो नहीं है उसकी प्राप्ति के साधन खोजें।

परन्तु सार्वजनिक भू-सम्पत्ति के अतिरिक्त, जो राज्य के लिए शासनकर्ताओं की ईमानदारी के अनुपात में ही उपयोगी है, सामान्य प्रशासन के सम्पूर्ण साधनों से परिचित कोई भी व्यक्ति जो अपने को वैध एवं न्यायसंगत उपायों तक ही सीमित रखना चाहता है यह देखकर चकित रह जायगा कि शासकों के पास सार्वजनिक आवश्यकताओं की वृद्धि पर निगाह रखने के इतने साधन हैं कि वे व्यक्ति की चीजों पर हाथ लगाये बिना भी उनका उपयोग कर सकते हैं। चूँकि वे राज्य के समस्त वाणिज्य के अधिष्ठाता हैं, इसलिए उनके लिए उसे ऐसे स्रोतों की ओर प्रवाहित करना, जो बिना हस्तक्षेप-सा दिखे प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं, सरल हैं। उपयुक्त अनुपात में खाद्य-

सामग्रियों, धन तथा व्यापार की वस्तुओं का समय तथा स्थानानुकूल वितरण, वित्त का सच्चा रहस्य है और धन का स्रोत भी; शर्त केवल इतनी है कि जो उसका परिचालन करते हैं वे भविष्य में अत्यधिक लाभ प्राप्त करने के ध्येय से वर्तमान में प्रत्यक्ष हानि सहन करने के लिए पर्याप्त दूरदर्शिता रखते हैं। जब हम एक शासन को बहुलता के काल में अनाज के निर्यात पर और अकाल के काल में आयात पर कर वसूल करने के स्थान पर प्रलोभनकारी अनुदान देते हुए देखते हैं तो हमारे नेत्रों के सम्मुख ऐसे तथ्य होने चाहिए जिनसे हमें उनकी वास्तविकता का विश्वास हो जाय। यदि ऐसे तथ्य प्राचीन समय में घटित हुए होते, तो हम उन्हें व्यर्थ की गाथाएँ समझते। मान लीजिए कि बुरे दिनों में सूखा रोकने के लिए सार्वजनिक खत्तियाँ स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया, तो क्या ऐसी लाभदायक संस्था का संचालन अधिकांश देशों में नवीन कर लगाने के लिए बहाना नहीं हो जायगा? जेनेवा में इस प्रकार की अनाज की खत्तियाँ, जो विवेकी प्रशासन द्वारा स्थापित की गयी हैं, और ठीक दशा में रखी जाती हैं, बुरे दिनों में सार्वजनिक शक्ति का केन्द्र और सभी कालों में राज्य का प्रधान राजस्व होती हैं।

उत्तम शासन की अर्थ-प्रणाली स्थापित करने के लिए इस लोकतंत्र की ओर कई बार अपनी निगाह उठायी है और उस विवेक तथा आनन्द का एक उदाहरण अपने देश में पाकर उत्फुल्ल हो उठा हूँ जिसे हर जगह प्रचलित देखना चाहता हूँ।

यदि हम पूछें कि राज्य की आवश्यकताएँ किस तरह बढ़ती हैं तो हमें ज्ञात होगा कि सामान्यतः वे व्यक्ति की आवश्यकताओं की भाँति किसी वास्तविक आवश्यकता की अपेक्षा व्यर्थ की इच्छाओं की वृद्धि से, अधिक बढ़ती हैं और प्रायः व्यय केवल इसलिए बढ़ाये जाते हैं कि आय बढ़ाने के लिए कोई बहाना मिल जाय। ऐसी स्थिति में राज्य के धनी न होने से भी लाभ होगा; कृत्रिम धनराशि वास्तव में संभावित दरिद्रताकी अपेक्षा अधिक बोझिल होगी। निःसन्देह शासकगण राष्ट्रों को एक हाथ से वह चीज प्रदान करते हुए जो दूसरे हाथ से छीन ली जाय, उन्हें कठोर निर्भरता की स्थिति में बनाये रखने की आशा करते हैं। और वास्तव में यही मिश्रियों के प्रति जोसेफ (Joseph) की नीति थी। परन्तु यह राजनैतिक वितण्डावाद राज्य के लिए कहीं अधिक घातक होता है क्योंकि जो धन एक बार हाथ से निकल जाता है फिर वापिस नहीं आता। ऐसे सिद्धान्त केवल उद्यमशील व्यक्तियों की क्षति करके अकर्मण्यों को धनी बनाते हैं।

दूसरों को विजय करने की लालसा ऐसी वृद्धि के सबसे स्पष्ट और भयानक कारणों में से एक है। यह इच्छा महत्वाकांक्षा की जिस प्रजाति से निकलकर घोषणा करती प्रतीत होती है वस्तुतः उससे भिन्न प्रजातियों से उत्पन्न होती है। प्रायः दूसरे किसी राष्ट्र पर आक्रमण करने की आभासिक इच्छा का गुप्त प्रयोजन, सैन्य-संख्या में वृद्धि करके और युद्ध-द्वारा नागरिकों का ध्यान दूसरी दिशाओं में आकर्षित करके अपने देश में शासकों की सत्ता बढ़ाना होता है।

कम से कम यह निश्चित है कि विजेता राष्ट्रों से अधिक उत्पीड़ित और दुखी और कोई जाति नहीं है और उनकी सफलताएँ केवल उनकी पीड़ा बढ़ाती हैं। क्या इतिहास ने हमें उस तथ्य की सूचना नहीं दी? तर्क हमें यह बताने में समर्थ होगा कि जैसे-जैसे राज्य विस्तृत होता है, उसी अनुपात में उसके व्यय गरिष्ठ एवं बोझिल हो जाते हैं। क्योंकि प्रत्येक प्रदेश को शासन के सामान्य व्यय का अपना भाग तो चुकाना ही पड़ता है, और उसके अतिरिक्त अपने प्रशासन का भी व्यय वहन करना पड़ता है जो इतना अधिक होता है मानो वे वास्तव में स्वतंत्र हों। इसके ऊपर यह ध्यान रखो कि बड़ी-बड़ी धनराशि एक स्थान पर उपार्जित की जाती है और खर्च दूसरे स्थान पर होती है। इसलिए उत्पादन और खपत का संतुलन शीघ्र बिगड़ जाता है और केवल एक नगर को घनाढ्य बनाने के लिए सारा देश शोषित हो जाता है।

सार्वजनिक आवश्यकताओं की वृद्धि का दूसरा स्रोत, जो प्रथम पर निर्भर करता है, यह है। एक समय ऐसा आ सकता है जबकि नागरिकगण अपने सामान्य-हित में रुचि न रखते हुए अपने देश के रक्षक होना भी बन्द कर देंगे, और दंडाधिकारी स्वतंत्र पुरुषों की अपेक्षा भाड़े के सैनिकों का नायकत्व पसंद करेंगे, यदि और किसी कारण से नहीं तो इसीलिए कि जब समय आवे वे स्वतंत्र पुरुषों को पराधीन बनाने में उनका प्रयोग करें। गणतंत्र के अंतिम वर्षों में तथा सम्राटों के काल में रोम की ऐसी ही स्थिति थी। क्योंकि सिकन्दर की तरह रोम की समस्त प्रारंभिक विजयें, ऐसे साहसी नागरिकों द्वारा सम्पादित की गयी थीं, जो आवश्यकता पड़ने पर, देश की सेवा में रक्तदान करने को उद्यत थे, परन्तु उसे बेचने के लिए नहीं। केवल वाई (Veii) के घेरे में रोम के पैदल सैनिकों को वेतन देने की प्रथा का आरंभ हुआ। जगरथाईन (Jugurthine) के युद्ध में मेरियस (Marius) ने जेल से छूटे हुए गुण्डों तथा अन्य भाड़े के सैनिकों को प्रविष्ट करके सैन्यदल को अपमानित किया। निरंकुश शासकों ने, जो उसी जनता के शत्रु

थे जिसे सुखी रखना उसका कर्तव्य था, बाह्य रूप से विदेशियों का सामना करने के लिए, परन्तु वास्तव में अपने देशबन्धुओं को पराधीन बनाने के लिए वैतनिक सेनाओं को रखा। ऐसी सेनाओं में भर्ती करने के लिए कृषि-फार्मों से मनुष्यों को लेना आवश्यक था। श्रमिकों के अभाव से खाद्यान्न की मात्रा में कमी हुई और कृषि के संचालन व्यय ने उन करों को जन्म दिया जिनसे वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया। इस प्रथम अव्यवस्था ने जन-साधारण में असंतोष को जन्म दिया। उन्हें कुचलने के लिए सैनिकों की संख्या में वृद्धि करनी पड़ी और फलस्वरूप जन-साधारण का क्लेश और बढ़ गया और बढ़ती हुई निराशा ने परिव्यय से बचने के लिए कारण में और अधिक वृद्धि की। दूसरी ओर, भाड़े के सैनिकों ने, जिनकी योग्यता हम उस मूल्य से आँक सकते हैं जिस पर उन्होंने अपने को बेचा, अपनी नीचता पर गर्व करते तथा जिन कानूनों ने उनकी रक्षा की और उन सहचरों को जिनका नमक उन्होंने खाया, घृणा करते हुए, अपने को रोम के रक्षकों की अपेक्षा सीजर के खुशामदी अनुचरों के रूप में अधिक गौरवान्वित समझा। चूंकि वे बुद्धिहीन आज्ञाकारिता के अभ्यस्त थे, इसलिए उनकी तलवारें सदैव अपने सहचर नागरिकों पर खिंची रहती थीं, और वे प्रथम संकेत पर ही कल्लेआम के लिए तैयार रहते थे। यह दर्शाना कठिन नहीं होगा कि रोम साम्राज्य के विनाश के प्रधान कारणों में यह एक था।

तोपखाने एवं किलाबन्दी के आविष्कार ने वर्तमान युग में युरोप के राजाओं को अपने नगरों की किलेबंदी के लिए नियमित सैनिकों की सेवा लेने को बाध्य किया है। परन्तु उनके मन्तव्य चाहे जितने नियमानुकूल हों, भय होता है कि उनका प्रभाव कम घातक नहीं होगा। सेनाएँ बनाने और दुर्गरक्षक दलों का निर्माण करने के लिए देश को जनशून्य बनाने के अब पहिले से ज्यादा अच्छे कारण नहीं हैं और जनता को उनका भार वहन करने के लिए उत्पीड़ित करना उचित नहीं है। संक्षेप में, संसार के इस भाग में पिछले दिनों में इस प्रकार के भयानक सैनिक संगठन इस तीव्रता से बढ़ गये हैं कि उनसे स्पष्टतः युरोप के जनशून्य होने का खतरा उपस्थित हो गया है। और वे देर-सबेर उसके निवासियों का विनाश कर देंगे।

चाहे जिस रूप में हो, देखना केवल यह है कि ऐसे संगठन अनिवार्य रूप से उस वास्तविक आर्थिक प्रणाली को पलट देना चाहते हैं जो सार्वजनिक भूसम्पत्ति से राज्य का अधिकांश राजस्व प्राप्त करती है और कष्टप्रद चुंगी कर तथा आर्थिक सहायताओं को छोड़ देती है। इन्हीं का वर्णन करना शेष है।

स्मरण रहना चाहिए कि सामाजिक समझौते की नींव सम्पत्ति है और इसकी पहली शर्त है कि प्रत्येक को जो उसका है उसके ही शान्तिपूर्ण स्वामित्व में रहने दिया जाय। यह सत्य है कि उसी संधि-द्वारा, चुपचाप ही सही, प्रत्येक सार्वजनिक आवश्यकता के लिए अपने ऊपर कर-निर्धारण का भार लेता है परन्तु चूंकि यह कार्य किसी आधारभूत कानून को प्रभावित नहीं करता और उसमें अनुदान देने-वाले सभी लोगों द्वारा उसकी आवश्यकता मान्य है, स्पष्ट है कि ऐसा कर-निर्धारण वैध होने के लिए ऐच्छिक होना चाहिए। पर उसे किसी विशिष्ट इच्छा पर इस रूप में निर्भर नहीं करना चाहिए कि मानो हर एक व्यक्ति की स्वीकृति लेनी आवश्यक हो, और जितना उसका मन हो उतना ही अनुदान वह दे, बल्कि इसका निर्णय सामान्य इच्छा के अनुसार, बहुमत के आधार पर और शक्ति के अनुपात में, होना चाहिए।

यह एक ऐसा सत्य है जिसे सभी दार्शनिकों तथा प्रसिद्ध न्यायशास्त्रियों ने स्वीकार किया है, यहाँ तक कि बोदाँ ने भी कि कर वैध रूप से जन-साधारण अथवा उनके प्रतिनिधियों की अनुमति के बिना नहीं लगाये जा सकते। यदि उनमें से किसी ने ऐसे नियम निरूपित किये हैं जो इसके विरोध में हैं तो ऐसा करने में उनके विशेष प्रयोजन सरलता से देखे जा सकते हैं। वे ऐसी शर्तें तथा रूकावटें लगा देते हैं कि तर्क मूलतः उसी बात पर आ जाता है। चाहे जन-साधारण की शक्ति में हो कि उसे मना कर दें अथवा राजसत्ताधारी के लिए उचित हो कि उसे जबर्दस्ती वसूल न करें, इससे अधिकार के प्रश्न का कोई सम्बन्ध नहीं है। और यदि विचाराधीन प्रश्न केवल सत्ता से संबंधित हो तो फिर यह छानबीन करना व्यर्थ है कि वह वैध है अथवा नहीं। जनता पर लगाये गये कर दो प्रकार के होते हैं—
 वास्तविक जो गण्य या जिस पर लगाया जाता है तथा व्ययगत जो नायक वा प्रधान द्वारा दिया जाता है। दोनों ही कर अथवा 'उपदान' (Subsidy) कहलाते हैं। जब जनता देने के लिए धनराशि निर्धारित करती है तो वह 'उपदान' कहलाती है परन्तु जब वह धनराशि थोपी जाती है तो कर कहलाती है। 'नियमों की भावना' (Spirit of Laws) में हमें बतलाया जाता है कि व्यक्ति-कर (Capitation Tax) दासता के लिए सर्वथा उपयुक्त होता है और यथार्थ-कर स्वतंत्रता के अनुकूल होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति की परिस्थिति समान होती तो यह बात निर्विवाद होती। विपरीत स्थिति में ऐसे कर से अधिक अनुपातहीन और कोई चीज नहीं हो सकती और यह सत्य है कि सही अनुपात के पालन में ही

स्वतंत्रता की आत्मा निहित होती है। परन्तु यदि नायकों वा प्रधानों द्वारा दिया गया कर सही अर्थों में व्यक्तियों की परिस्थितियों के अनुपात में होता, तो जिसे फ्रान्स में व्यक्ति कर (Capitation Tax) के नाम से पुकारा जाता है वह स्वतंत्र मानवों के लिए सबसे न्यायसंगत तथा फलस्वरूप सबसे उचित होता।

पहिले पहल देखने में उपर्युक्त अनुपात बड़ा सरल प्रतीत होता है क्योंकि संसार में प्रत्येक मनुष्य की वस्तुस्थिति के सापेक्ष होने के कारण उनका आपात सदैव सार्वजनिक होता है। ऐसी गणना में लोभजन्य धोका, भ्रष्टता एवं स्वार्थ के अलावा भी प्रायः सब तत्वों पर उचित रूप से ध्यान नहीं दिया जाता। सर्व-प्रथम हमें मात्राओं के सम्बन्धों पर विचार करना है, जिसके अनुसार अन्य बातों में समान होते हुए (*Ceteris paribus*) जिस व्यक्ति के पास दूसरे से दस गुनी सम्पत्ति है उसे राज्य को दस गुना भुगतान करना चाहिए। दूसरी बात है प्रयोग का अनुपात अर्थात् आवश्यक एवं फालतू बातों में अन्तर। जिसके पास केवल जीवन की सामान्य आवश्यक वस्तुएँ हैं उसे कुछ भुगतान नहीं करना चाहिए; जिस व्यक्ति के पास व्यर्थ की बहुत-सी वस्तुएँ हैं उस पर केवल आवश्यकता की वस्तुओं को छोड़ अन्य सभी वस्तुओं पर न्यायसंगत रूप से कर लगाया जा सकता है। इसके विरुद्ध वह शायद यह एतराज करेगा कि यदि उसके पद का ध्यान रखा जाय, तो जो चीजें निम्नवर्गीय पुरुष के लिए व्यर्थ होती हैं वही उसके लिए आवश्यक होंगी। परन्तु यह असत्य है क्योंकि एक सामन्त के भी ग्वाले की भाँति दो ही टांगें होती हैं और उसके समान ही केवल एक उदर। इसके अतिरिक्त, कृत्रिम आवश्यकताएँ वास्तव में उसके पद के लिए इतनी कम आवश्यक होती हैं कि यदि वह उनमें से किसी को सुयोग्य अवसर पर त्याग दे तो उसका कहीं अधिक सम्मान होगा। जनसमूह उस मंत्री की पूजा करेगा जो राजसभा तक इसलिए पैदल जाय कि उसने राज्य की जरूरी आवश्यकता पूर्ण करने के लिए, अपनी सवारियों को निकाल दिया। किसी भी मनुष्य के लिए कानून वैभव का निर्धारण नहीं करता और अधिकार के आगे औचित्य स्वतः कोई तर्क नहीं है।

तीसरा सम्बंध, जिसका कभी ध्यान में नहीं लाया जाता, यद्यपि उस पर मुख्य रूप से विचार किया जाना चाहिए, वह लाभ है जो प्रत्येक व्यक्ति अपने सामाजिक संघ से ग्रहण करता है। क्योंकि यही धनिकों की महती सम्पत्तियों के लिए शक्तिशाली सुरक्षा प्रदान करता है और दरिद्र पुरुष के पास कठिनाई से उस गृह का शान्त स्वामित्व रहने देता है जिसका वह अपने हाथों से निर्माण करता है।

क्या समाज के सभी लाभ धनिक एवं शक्तिशाली के लिए नहीं हैं? क्या सभी लाभप्रद पद उसके हाथों में नहीं हैं? क्या सार्वजनिक सत्ता सदैव उसके पक्ष में नहीं रहती? यदि कीर्त्तिवान् पुरुष अपने महाजनो को ठग लेता है अथवा अन्य धृष्टताओं का दोषी होता है तो क्या उसे सदैव अपराध से छुटकारा पाने के लिए विश्वास नहीं दिलाया जाता? क्या बड़े आदमियों द्वारा आक्रमण, हिंसा के कार्य, राजनैतिक हत्याएँ तथा साधारण हत्याएँ नहीं की जातीं और कुछ महीनों में ही उनके विषय में चुप्पी नहीं साध ली जाती तथा इस विषय का आगे विचार छोड़ नहीं दिया जाता, परन्तु बड़ा आदमी जब स्वयं अपमानित होता या लूट लिया जाता है तो समस्त पुलिस दल तुरन्त सक्रिय हो जाता है और उन अवोध मनुष्यों को भी कष्ट पहुँचाया जाता है जिन पर केवल सन्देह हो। यदि वह किसी भयानक मार्ग से गुजरता है तो सारी जनता उसका अंगरक्षक बनने के लिए शस्त्र ग्रहण कर लेती है। यदि उसकी गाड़ी की धुरी टूट जाती है तो प्रत्येक व्यक्ति उसकी सहायतार्थ दौड़ पड़ता है। यदि उसके द्वार पर कोलाहल (शोर) होता है तो उसके एक शब्द उच्चारण करते ही सब शान्त हो जाता है। यदि जन-समुदाय के एकत्र होने से उसे क्लेश पहुँचता है तो उसके हाथ हिलाते ही प्रत्येक उसके लिए मार्ग छोड़ देता है। यदि उसके वाहन की मार्ग में किसी छकड़ागाड़ी (wagon) से भेंट हो जाती है तो उसके सेवक गाड़ी के चालक का सिर फोड़ने को तत्पर हो जाते हैं। और वाहन में बैठे हुए अकर्मण्य आत्माभिमानी व्यक्तियों को विलम्ब न हो जाय, इसलिए पचास सत्यशील पैदल चलनेवालों को मार्ग में अपने कार्य से चुपचाप जाते हुए भी सिर पर डण्डों की मार पड़ जाना सम्भव है। तिस पर भी इतनी बड़ी मान-प्रतिष्ठा के लिए उसे एक कौड़ी खर्च नहीं करना पड़ता। यह तो धनिक का अधिकार है, यद्यपि ऐसी वस्तु नहीं जो उसने धन से खरीदी हो। दरिद्र व्यक्ति की स्थिति कितनी भिन्न है। जितनी ही अधिक मानवजाति उसकी ऋणी होती है उतना ही अधिक समाज उसको अस्वीकार करता है। प्रत्येक द्वार उसके लिए बन्द कर दिया जाता है, चाहे उसको उसे खुलवाने का अधिकार ही क्यों न हो। और यदि कभी वह न्याय प्राप्त भी करता है तो दूसरों द्वारा कृपा-प्रसाद पाने से कहीं अधिक कठिनाई द्वारा। यदि सैनिक दल का संगठन होना है अथवा जनपथ की मरम्मत होनी है तो सदैव उसे प्राथमिकता दी जायगी। वह सदैव उस भार का वहन करता है जिससे उसके धनिक पड़ोसी अपने प्रभाव द्वारा मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। यदि वह तनिक-सा दुर्घटना में ग्रस्त हो जाता है

तो प्रत्येक उसे दुत्कारता है। यदि उसका छकड़ा मार्ग पर उलट जाता है, तो सहायता प्राप्त करना तो दूर रहा, उसे अपने को भाग्यवान् समझना चाहिए, यदि उसके घोड़े पर किसी युवा ड्यूक के उद्गुण्ड सन्देश-वाहकों के कोड़े न पड़ जायें। संक्षेप में, दरिद्र के लिए वह समस्त निःशुल्क सहायता, जिसकी उसे आवश्यकता होती है, निषिद्ध है क्योंकि वह उसके लिए मूल्य नहीं चुका सकता। मैं प्रत्येक दरिद्र व्यक्ति को, यदि उसको सत्यशील हृदय, एक सुन्दर कन्या और एक शक्ति-शाली पड़ोसी पाने का दुर्भाग्य प्राप्त हो तो पूर्णतः नष्ट हुआ समझता हूँ।

दूसरा यह तथ्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि दरिद्र की हानि की पूर्ति करना धनिकों की क्षतिपूर्ति से कहीं अधिक कठिन होता है और प्राप्ति की कठिनाई जितनी उसकी आवश्यकता हो उसी अनुपात में सदैव बढ़ी होती है। “शून्य से शून्य उत्पन्न होता है।” यह भौतिक शास्त्र की भाँति जीवन के विषय में भी उतना ही सत्य है। पैसा पैसे को खींचता है और प्रथम गिन्नी उपार्जित करना कभी-कभी द्वितीय दस लाख से भी कहीं अधिक दुष्कर होता है। इसके ऊपर यदि इसका भी ख्याल किया जाय कि दरिद्र जो कुछ चुकाता है वह सदैव के लिए खो देता है जबकि वह धनिकों के हाथ में जमा रहता है अथवा वापिस आ जाता है। और उनको जो शासन में हाथ बँटाते हैं अथवा उनके आश्रितों को, शीघ्र अथवा देर में समस्त करों की धनराशि प्राप्त हो जाती है यद्यपि वे केवल अपना अंश देते हैं। इसी लिए इन व्यक्तियों का कर-वृद्धि में सदैव चतुराईपूर्ण स्वार्थ रहता है।

इन दो वर्गों के आदमियों के मध्य सामाजिक समझौते की शर्तों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है:—

“तुम्हें मेरी आवश्यकता है क्योंकि मैं धनी हूँ और तुम दरिद्र हो। इसलिए हम एक समझौता करेगे। मैं तुम्हें अपनी सेवा करने का सम्मान अर्पित करूँगा, इस शर्त पर कि तुम्हारे पास जो कुछ थोड़ा-सा शेष है वह भी मेरे ऊपर इस हेतु न्योछावर कर दो कि मैं तुम्हें आदेश देने का कण्ट उठाऊँगा।”

इन सब विचारों को सतर्कता से एक साथ संकलित करने पर हम पायेंगे कि करों को सच्ची, न्यायी तथा आनुपातिक शैली में लगाने के लिए उसे करदाताओं की सम्पत्ति के साधारण अनुपात में न होकर उनकी सम्पत्ति की स्थितियों तथा बाह्य आडम्बर के विभेद के अनुपात के फल के रूप में होना चाहिए। इस प्रकार का महत्वपूर्ण तथा दुरूह कार्य असंख्य सत्यशील लिपिक, जो उसकी अंकगणित जानते हैं, प्रतिदिन ही करते हैं, परन्तु एक प्लेटो अथवा एक मांटेस्क्यू (Montesquieu)

बिना अत्यधिक हिचक के, अथवा बिना बुद्धिमत्ता तथा सत्यशीलता के निमित्त ईश्वर से प्रार्थना किये, ऐसा करने का साहस नहीं करेंगे।

व्यक्तिगत करों की एक और हानि यह होती है कि उनका अनुभव लोग बहुत ज्यादा करते हैं, अथवा उनकी वसूली अत्यन्त कठोरता के साथ होती है। तिस पर इस कठोरता के कारण उनका बचाव कर लेने में कोई कमी नहीं आती, क्योंकि व्यक्तियों के लिए अपनी सम्पत्तियों की अपेक्षा करों से बचना कहीं सरल है।

समस्त करों में से, भूमिकर अथवा वास्तविक कर उन देशों में सदैव से ही सबसे लाभप्रद समझा जाता रहा है जहाँ इस बात पर अधिक ध्यान दिया जाता है कि करों से क्या प्राप्ति होगी और उस प्राप्ति की वापसी की क्या निश्चितता होगी और जन-साधारण की असुविधाओं को कम से कम कैसे किया जा सकता है। यह भी दृढ़ता के साथ कहा गया है कि किसान को अकर्मण्यता से जगाने के लिए उस पर करों का बोझ डालना आवश्यक है क्योंकि यदि उसे कोई कर न देने हों तो वह कभी कार्य नहीं करेगा। परन्तु सभी देशों का अनुभव इस हास्यास्पद धारणा को झूठा सिद्ध कर देता है। इंग्लैण्ड तथा हलैण्ड में किसान बहुत कम कर देता है और चीन में कुछ भी नहीं। तिस पर भी ये ऐसे देश हैं जहाँ खेत भली-भाँति जोते बोये जाते हैं। दूसरी ओर उन देशों में जहाँ कृषकों को भूमि की उपज के अनुपात में कर देना पड़ता है वहाँ वह बहुत सा भाग बिना जोते छोड़ देता है अथवा केवल इतनी ही फसल उगाता है जितनी उसकी जीविका के निर्वाह के लिए आवश्यक होती है। क्योंकि अपने श्रम के प्रतिफल को खो देने की अपेक्षा कुछ नहीं करना उसे कुछ लाभदायक प्रतीत होता है। उद्योग पर कर लगाना अकर्मण्यता को बहिष्कृत करने का विचित्र साधन है।

भूमि अथवा खाद्यान्न पर, विशेषतः अधिक मात्रा में कर लगाने के दो ऐसे घातक परिणाम होते हैं जो आगे चलकर उन देशों को ही उजाड़ देते हैं जिनमें उनकी व्यवस्था की जाती है।

इनमें प्रथम परिणाम तो सिक्कों के त्रुटिपूर्ण परिचलन से उत्पन्न होता है क्योंकि उद्योग तथा वाणिज्य ग्रामीण क्षेत्रों की धनराशि को राजधानियों में खींच लाते हैं। और चूँकि कर उस अनुपात को नष्ट कर देता है जो अन्यथा कृषकों की आवश्यकताओं तथा खाद्यान्न के मूल्य के बीच होता, धन सदैव उसके हाथ से निकलता जाता है और कभी वापिस नहीं आता। इस प्रकार नगर जितने धनी होंगे, ग्रामीण क्षेत्र उतने ही दरिद्र होते जायेंगे। राजा अथवा उसके वित्त अधिकारियों के हाथों

से करें की निधि कलाकारों तथा व्यापारियों को हस्तान्तरित हो जाती है और कृषक जो उसका न्यूनतम अंश पाता है, अन्त में उसके लिए एक-सा भुगतान करते करते और अनवरत रूप से कम प्राप्त होते रहने से शक्तिहीन हो जाता है। एक मानव शरीर कैसे जीवित रह सकता है यदि उसमें केवल नसें हों और घमनियाँ नहीं, अथवा घमनियाँ केवल हृदय के चारों ओर चार इंच तक रक्त का संचार करें। चारदीन (Chardin) कहता है कि ईरान (Persia) में पण्यद्रव्य पर राज-कर (रायल ड्यूज) पदार्थों के रूप में दिया जाता है। यह प्रथा, जैसा हिरो-डोटस हमें सूचित करता है, उस देश में प्राचीन समय से दारा (Darius) के शासनकाल तक प्रचलित रही और यह उस दोष को दूर कर सकती है जिसका मैं वर्णन कर रहा हूँ। परन्तु जब तक कि फारस के प्रबन्धकर्ता, संचालक, आयुक्त तथा गोदाम-रक्षक अन्य स्थानों में पाये जानेवाले पुरुषों से भिन्न न हों तब तक मैं विश्वास नहीं कर सकता कि उपज का न्यूनतम अंश भी राजा तक पहुँच सकता है, अथवा खाद्यान्न किसी भी खत्ती में खराब नहीं होंगे और गोदामों का अधिकांश भाग अग्निकांड-द्वारा विनष्ट नहीं हो जायगा।

दूसरा दोषपूर्ण प्रभाव एक आभासिक लाभ से उत्पन्न होता है जो दोष को पता चलने के पहले ही बहुत बढ़ा देता है। कहने का तात्पर्य यह है कि खाद्यान्न ऐसा पण्यद्रव्य है जिसका मूल्य उत्पादक देश में लगनेवाले करों से नहीं बढ़ता, और जो निर्विवाद रूप से आवश्यक होते हुए भी बिना मूल्यवृद्धि की मात्रा में घट सकता है। अस्तु, यद्यपि अन्न सस्ता रहता है तब भी बहुत सी जनता भुखमरी से मर जाती है और एक कृषक, कर का सम्पूर्ण भार वहन करते हुए भी अपने अन्न के मूल्य से अपनी क्षतिपूर्ति नहीं कर पाता। हमें भूमिकर के लिए उसी प्रकार तर्क नहीं करना चाहिए जैसा कि विभिन्न प्रकार के वाणिज्य पदार्थों पर लगे टैक्स के विषय में हम करते हैं क्योंकि उन पर लगे करों (चुंगी) का प्रभाव मूल्य-वृद्धि होता है और वे क्रय करनेवालों द्वारा चुकाये जाते हैं न कि विक्रय करने वालों द्वारा। फिर ये कर (चुंगी) चाहे जितने बोझिल हों, अब भी ऐच्छिक है, और व्यापारी द्वारा क्रय की गयी मात्रा के अनुपात में दिये जाते हैं। और चूँकि वह अपनी विक्री के अनुपात में ही खरीद करता है, वह स्वयं ही कानून को विशेष रूप में प्रयुक्त होने देता है; परन्तु किसान, जो निर्धारित समयों पर अपना राजस्व चुकाने के लिए बाध्य होता है, चाहे वह बेचे अथवा न बेचे; वह उस समय की प्रतीक्षा नहीं कर सकता जब तक कि वह खाद्यान्न का प्रत्याशित मूल्य न पा जाय। यदि उसे अपनी

आजीविका के निमित्त बेचने को बाध्य न भी होना पड़े तब भी उसे करों को चुकाने के लिए ऐसा करना ही होगा। ऐसी दशा में प्रायः करों की अधिकता ही अन्न का मूल्य निम्न स्तर पर रखती है।

आगे इस पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि वाणिज्य तथा उद्योग के साधन, वृद्धत ज्यादा धन से करों को अपना समर्थन देने से इतने दूर रहते हैं कि वे उन्हें केवल कष्टकारक बना देते हैं। जो बात एकदम स्पष्ट है उस पर मैं बल नहीं दूँगा, अर्थात् राज्य में अत्यधिक अथवा कम मात्रा में द्रव्य एक विदेशी की निगाह में अधिक अथवा कम साख वा मान प्रदान करे इससे नागरिकों की वास्तविक समृद्धि या सौभाग्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। और उनकी स्थिति इससे न अधिक सुख-पूर्ण होती है, न कम। परन्तु मुझे निम्नांकित दो महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ यहां अवश्य करनी चाहिएं.

प्रथम : जब तक कि राज्य के पास फालतू पदार्थ नहीं होते और विदेशी व्यापार से धन की बहुलता नहीं उत्पन्न होती, तब तक केवल व्यापारिक नगरों को ही बहुलता का बोध रहता है। जबकि कृषक अपेक्षाकृत गरीब होते जाते हैं।

द्वितीय : चूँकि मुद्रा की वृद्धि से प्रत्येक वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है इसलिए करों को भी अनुपाततः बढ़ना चाहिए। जिसके फलस्वरूप किसान बिना अति-रिक्त साधनों को उपार्जित किये अपने को और भी अधिक भार-ग्रस्त पायेंगे।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि भूमिकर यथार्थ में उपज पर चुंगी है। और यह सार्वभौम रूप से स्वीकृत है कि क्रय-कर्त्ता द्वारा अन्न पर दिये गये कर से भयानक और कोई वस्तु नहीं है। परन्तु हम यह नहीं देख पाते कि जब कृषक स्वयं इस चुंगी को चुकाता है तो वह सौगुनी दोषपूर्ण होती होगी। क्या यह राज्य के सार-तत्व के उद्गम पर ही आक्रमण नहीं है? क्या यह देश को जनशून्य करने तथा अंत में उसे विनष्ट करने की सबसे सीधी प्रणाली नहीं है? क्योंकि निकृष्टतम अभाव जो एक राष्ट्र अनुभव कर सकता है, जनशून्यता है।

कर लगाते समय वास्तविक राजमर्मज्ञ ही केवल आर्थिक उद्देश्य के ऊपर उठ सकता है। वही इस बोझिल उत्तरदायित्व को उपयोगी नियमों में परिवर्तित कर सकता है और जन-साधारण को इस संदेह में डाल सकता है कि ऐसी संस्थाएँ केवल द्रव्यलाभ के लिए न होकर सामान्यतः समूचे राष्ट्र की भलाई के लिए थीं।

विदेशी पदार्थों के आयात पर कर (चुगी), जिसमें देशवासी, बिना देश को

उनकी आवश्यकता हुए, रुचि रखते हैं, और उन पदार्थों के निर्यात पर चुंगी, जो वस्तुएँ देश में यद्यपि बहुतायत में उत्पन्न नहीं होती हैं पर जिनके बिना विदेशी जीवन-यापन नहीं कर सकते, व्यर्थ की तथा अत्यधिक द्रव्यलाभ करानेवाली ललित कला-कृतियों पर चुंगी, विशुद्ध विलास सामग्री के आयात और सामान्यतः समस्त भोग-विलास की वस्तुओं के आयात पर चुंगी, लगाने से उपर्युक्त दोनों लक्ष्यों की पूर्ति हो जायगी।

निःसन्देह इसी प्रकार के करों से दरिद्रों को सुविधा मिलती है। धनिकों पर लादे गये कर-भार से यह संभव है कि भाग्य की असमानताओं की अनवरत वृद्धि से, धनिकों द्वारा शिल्पियों के तथा व्यर्थ के सेवकों के समुदायों को पराधीन बनाये जाने से, हमारे नगरों में अकर्मण्य एवं बेकार पुरुषों की वृद्धि से, और ग्रामीण क्षेत्रों को जनशून्य हो जाने से रोका जा सके।

यह महत्त्वपूर्ण है कि किसी भी पदार्थ के मूल्य तथा उस पर लगायी गयी चुंगी को इस अनुपात में होना चाहिए कि व्यक्तियों का लोभ संभावित लाभ की अधिकता से धोखाधड़ी करने को लालायित न हो जाय। तस्कर व्यापार को कठिन बनाने के लिए, उन पदार्थों को पृथक् कर लेना चाहिए, जिनका छिपाना बहुत कठिन है। समस्त चुंगियाँ वेचनेवाले की अपेक्षा चुंगी लगाये गये पदार्थ के उपभोक्ता द्वारा दी जानी चाहिए, क्योंकि चुंगी की जो धनराशि वेचनेवाले को देनी है वह उसे कहीं अधिक प्रलोभनों में डाल देती है और उसे धोखाधड़ी करने के अधिक अवसर प्रदान करती है।

चीन में बराबर यही प्रथा चली आती है कि वहाँ कर अधिक होने पर भी संसार के अन्य किसी भाग से अधिक अच्छी तरह चुकाये जाते हैं। वहाँ व्यापारी स्वयं चुंगी नहीं देता। केवल त्रयकर्त्ता, बिना किसी शिकायत या राजद्रोह की भावना के सम्पूर्ण धनराशि चुकाता है। चूँकि चावल तथा खाद्यान्न जैसी जीवन की आवश्यक वस्तुएँ, करो से पूर्णतः मुक्त हैं, चुंगी का भार केवल उन्हीं लोगों पर पड़ता है जो धनी हैं। तस्कर व्यापार के विरुद्ध सावधानियाँ उनके घटित होने के भय से निर्दिष्ट नहीं होनी चाहिए वरन् शासन द्वारा इस ख्याल से की जानी चाहिए कि उस अवैध लाभ द्वारा प्रलुब्ध होने से व्यक्तियों का बचाव हो, जो उन्हें पहिले बुरा नागरिक बनाता है, और तदुपरान्त उन्हें बेईमान आदमियों के रूप में बदल देता है।

शानदार बर्दी वाले नौकरों पर, सजावट की सामग्री पर, मूल्यवान उपकरणों

पर, सुन्दर वस्त्रों पर, बड़े-बड़े सभा भवनों तथा उद्यानों पर, सभी प्रकार के सार्वजनिक विनोद एवं भोजों पर जैसे नर्तक, गायक खिलाड़ी, इत्यादि के व्यर्थ व्यवसायों पर संक्षेप में विलासिता, अकर्मण्यता तथा आनन्द-विनोद इत्यादि विलासिता को बढ़ानेवाली सब बातों पर जो सभी की दृष्टि में अखरते हैं और जिनको कम ही छिपाया जा सकता है, क्योंकि उनका सम्पूर्ण लक्ष्य प्रदर्शन है, जिनके बिना वे शायद व्यर्थ हो जायँगे, भारी टैक्स लगाना चाहिए। हमें इन करों की स्वेच्छाचारिता के विषय में कोई शंका नहीं रखनी चाहिए क्योंकि वे उन वस्तुओं पर लगाये गये हैं जो बिल्कुल आवश्यक नहीं हैं। उन्हें मानवजाति के विषय में बहुत कम जानकारी होगी, जो यह कल्पना करते हैं, कि एक बार विलासिता द्वारा प्रलुब्ध हो जाने के पश्चात् वह उसे कभी भी तिलांजलि दे सकते हैं। वे सौगुनी शीघ्रता से सामान्य आवश्यकताओं को त्याग देंगे और लज्जित होने की अपेक्षा भुखमरी से भले ही मर जायँगे। उनके व्यय में वृद्धि उनके समर्थन के लिए एक अतिरिक्त कारण है। जबकि धनी प्रतीत होने का गर्व, वस्तु के मूल्य तथा उस पर लगाये गये कर से अपना लाभ निकाल लेता है। जब तक संसार में धनी हैं वे दरिद्रों से अपने को अलग एवं विशेष दिखाने के इच्छुक होंगे। राज्य भी उससे कम बोझिल राजस्व की योजना नहीं बना सकता जो इस भेद से उत्पन्न होता है।

इसी कारण उद्योग को उस आर्थिक प्रणाली से कोई हानि नहीं पहुँचेगी जो राजस्व बढ़ाती है तथा खेतिहरों को राहत दिलाकर कृषि के उत्पादन में वृद्धि करती है और अनजाने ही सब समृद्धियों को उस मध्यम अवस्था के समीप लाने की प्रेरणा करती है जो राज्य की यथार्थ शक्ति का संगठन करती है। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह कर बहुत-सी फैशन वाली पोशाक तथा आमोद-प्रमोद को समय से पूर्व विनष्ट कर देता है। परन्तु इसका अर्थ केवल दूसरों द्वारा उनका स्थान लेना होगा, जिससे निर्माता लाभ उठायेगा तथा राजकोष की क्षति होगी। संक्षेप में अनुमान कीजिए कि शासन की नीति केवल धनिकों की अनावश्यक वस्तुओं पर ही कर लगाना होती तो दो बातों में से एक घटित होती या तो धनिक अपने अनावश्यक व्ययों को लाभदायक बना लेते जो राज्य के लिए लाभ की बात होती और इस प्रकार करों का लगाना व्यय-विषयक सर्वश्रेष्ठ नियमों के प्रभाव-तुल्य होता और राज्य के व्यय व्यक्तियों के साथ अनिवार्य रूप से घटते और राज-कोष की आय में इतनी कमी न होती जितना कि उसे कम चुकाने से लाभ होता। अथवा यदि धनी कम अपव्ययी न होते, तो राज-कोष के पास करों की निधि

के व्यय में ऐसे साधन होते जो राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करते। प्रथम अवस्था में राज-कोष खर्च की कमी से जो कुछ वह बचा सकता उसके कारण अधिक धनी होता। और द्वितीय (अवस्था) में व्यक्तियों के व्यर्थ के व्ययों से समृद्ध होता।

राजनैतिक अधिकार के सम्बन्ध में हम एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशिष्टता (विभेद) जोड़ सकते हैं जिस पर अपने लिए सब कुछ दृढ़ता के साथ निरन्तर करनेवाली सरकारों को अधिक ध्यान देना चाहिए। यह देखा गया है कि जीवन की आवश्यक वस्तुओं पर जो व्यक्तिगत कर तथा चुंगियाँ लगायी जाती हैं, सीधे सम्पत्ति के अधिकार की और फलस्वरूप राजनैतिक समाज की सच्ची नींव को भी काट सकती हैं। यदि वे जन-साधारण अथवा उनके प्रतिनिधियों की स्पष्ट स्वीकृति-से नहीं लगायी जाती तो सदैव भयानक परिणाम उत्पन्न करनेवाली होती हैं। यह उन वस्तुओं के विषय में सत्य नहीं है जिनके प्रयोग का हम परित्याग कर सकते हैं। चूँकि एक व्यक्ति कर देने की निर्विवाद आवश्यकता नहीं समझता, उसका अंशदान स्वेच्छाकृत गिना जा सकता है। तब समस्त जनता की अनुमति का स्थान प्रत्येक अंशदानी की विशेष अनुमति ले लेती है। जनता ऐसे करों के लगाने का क्यों विरोध करेगी, जिसका भार केवल उन लोगों पर पड़ता है जो उन्हें देने की इच्छा रखते हैं? मुझे यह निश्चित प्रतीत होता है कि प्रत्येक वस्तु की, जो कानून द्वारा निषिद्ध या सदाचार के विपरीत नहीं है फिर भी शासन द्वारा वर्जित है, कुछ चुंगी देने पर अनुमति दी जानी चाहिए। दृष्टान्त के लिए, यदि शासन कोच या बन्द चौपटिया गाड़ियों के प्रयोग का निषेध कर दे तो निश्चय ही उन पर कर लगा सकती है। उनको पूर्णरूप से निषेध न करके उनके प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने का यह लाभदायक एवं विवेकपूर्ण तरीका है। ऐसी दशा में कर एक प्रकार का अर्थ-दण्ड समझा जाना चाहिए जिसका प्रतिफल उस दोष की क्षति, पूर्ण करता है जिसे यह दण्डित करता है।

संभवतः विरोध में यह कहा जा सकता है कि वे जिन्हें बोदाँ पाखण्डी कहता है अर्थात् वे, जो घनिक वर्ग में होने के कारण करों का सुझाव देते अथवा लगवाते हैं, दरिद्रों को द्रव्यहीन करने के लिए अपने को भी नहीं छोड़ेंगे। परन्तु यह बात बिल्कुल अप्रासंगिक है। यदि प्रत्येक राष्ट्र में, जिन्हें सार्वभौम राजसत्ताधारी या सम्राट जनता के शासन का भार सौंपता है, अपने पद से ही उसके शत्रु हों, तब तो यह जाँच करना ही व्यर्थ है कि उन्हें जन-साधारण को सुखी बनाने के लिए क्या करना चाहिए।

